वर्ष ७, अंक ५

श्रीकृष्णाय नमः

माघ पूर्णिमा १९८९

वार्षिक चन्दा २)

सम्पादक—
म० कृष्णानन्द, भूमानन्द

एक प्रति ।)

विषय सूची

नं०	लेख	लेखक	पृष्ठ
१.	वेदोपदेश		१२१
२.	भगवद्भक्ति (ले० श्रीपूज्य स्वामी भोले बाबा		१३०
३.	धर्म और उसकी परिभाषा (ले० शिवानन्द रामचन्द्र जी कपूर		१३६
४.	(प्रीति (मन) (कविता) (रचयित्री श्रीमती व कुमारी प्रभाकरी		१४०
५.	भीष्म जी का उपदेश		१४१
६.	वसन्त आगमन (कविता) (रचयिता प्रभुदेव ब्रह्मचारी आश्रम		१४४
७.	भगवान् का साक्षात्कार या सन्ध्योपासना (ले० श्री बद्रीदास जी पुरोहित		१४५
८.	व्यापकता (कविता) (ले० श्रीशान्ति स्वरूप जी		१४७
९.	ज्ञान भूमि (ले० श्रीमहात्मा राम		१४८
१०.	भक्त उद्धव (ले० श्री ममता प्रसाद जी		१५१
११.	भारत की दशा (कविता) (रचयिता रूपराम जी वनस्थी आश्रम		१५३
१२.	योग साधन (ले० स्वामी शिवानन्द जी सरस्वती		१५४
१३.	महात्माओं के वाक्य		१५७
१४.	(अपना करले) (भजन)		१५९

युक्त है। पृष्ठ संख्या १२८, तिस पर भी मूल्य केवल ।।।) बारह आना मात्र।

१७ गवांक

यह पाचवें वर्ष का विशेषांक है। इसमें गोरक्षा सम्बन्धी अति उत्तम संग्राह्य साहित्य संग्रह किया गया है। यह अंक गोशालाओं और डेयरी फार्मों के तथा प्रत्येक गोरक्षक के पढ़ने और मनन करने योग्य है। उत्तम वंश की गौवों और सांडों के चित्र तथा कई एक रंगीन चित्रों से सुसज्जित है इस अंक का मूल्य केवल १।) मात्र है।

१८ महात्मांक

यह भक्ति के छटे वर्ष का विशेषांक है। इस अंक में देशविदेश के महात्माओं के जीवन चरित्र बहुत ही ललित भाषा में संग्रह किये हैं। महात्माओं के २६ के लगभग रंगीन और सादे चित्र दिये गये हैं। मूल्य १।)

पुस्तक मिलने का पता:—

मैनेजर 'पुस्तक विभाग'

श्रीभगवद्भक्ति आश्रम रेवाड़ी।

शिव-परिछन

मैना सुभ आरती सँवारी। संग सुमंगल गावहिं नारी॥ कंचन थार सोह बर पानी। परिछन चली हरहि हरषानी॥
बिकट-बेष जब रुद्रहि देखा। अबलनि उर भय भयउ बिसेषा॥

GITA PRESS, GORAKHPUR.

जनता में भगवद्भक्ति भाव को जाग्रत करने वाली सचित्र मासिक पत्रिका।

वर्ष ७ | श्री भगवद्भक्ति आश्रम रेवाड़ी, मघ पूर्णिमा सं० १९८९ | अंक ५ पूर्ण संख्या ७७

वेदोपदेश

अक्षैर्मादीव्यः कृषि मित्कृषस्व वित्तेरमत्र बहु मन्यमानः।
तत्र गावः कितव तत्र जाया तन्मे विचष्टे सवितायमर्य ॥ १ ॥

हे कितव! तू जूआ मत खेल, कृषिकर! कृषि प्राप्त धनको ईश्वर दत्त मान कर आनन्द कर, कृषि के प्रसंग में गौ का पालन और अपनी स्त्री का भरण कर, इस बात को ईश्वर कहता है ॥ १ ॥

जाया तप्यते कितवस्य हीना माता पुत्रस्य चरतः क्वस्वित्।
ऋणावा बिभ्यद्धनमिच्छमानान्येषामन्तमुपनक्तमेति ॥ २ ॥

कितव की स्त्री सर्वदा दुष्ट रहती है, माता भी उस को देख कर कुढ़ा करती है, ऋणि से डरता हुआ कितव धन की कामना से रात्रि को औरों के मकानों में जाता है ॥ २ ॥

ये पंथानो बहवो देवयाना अन्तरा द्यावापृथिवी संचरन्ति ।
ते मा जुषन्तां पयसा घृतेन यथा क्रीत्वा धनमाहरामि ॥ ३ ॥

द्युलोक और पृथ्वी के मध्य में जितने जल मार्ग, आकाश मार्ग हैं वह मुझको मार्ग दें जिस देश देशान्तरों में दूध घी बेच कर, मैं धन लाऊं ॥ ३ ॥

येन धनेन प्रपणं चरामि धनेन देवा धनमिच्छमानः ।
तस्मिन्म इन्द्रो रुचीं मा दधातु प्रजापतिः सविता अग्नि ॥ ४ ॥

हे देवताओं ! जिस धन से मैं व्यवहार करता हूं अथवा धन से धन (ब्याज) कमाता हूं। ईश्वर मेरी रुची उस में बढ़ावे ॥ ४ ॥

नमस्ते जायमानायै जाताये उतते नमः ।
बालेभ्यः शकेभ्यो रुपाय अघ्न्येते नमः ॥ ५ ॥

हे अघ्न्ये गर्भ में आई हुई तुझको नमस्कार है और उत्पन्न हुई तुझको नमस्कार है तेरे रामों को तेरे खुरों को तेरे रूप को नमस्कार है ॥ ५ ॥

भगवद्भक्ति

[ले० श्री पूज्य स्वामी भोले बाबा जी]

विना यस्य कृपां नैव जीवानां मोक्ष संभवः ।
सर्वं ज्ञानमयं च कृष्णं हि शरणं व्रजे ॥

शरणागति तथा आत्मनिवेदन निष्ठा।

संसाराम-महाराज ! आज तो कृपा करके शरणागति और आत्मनिवेदन की महिमा सुनाइये और यह भी बताइये कि क्या वन्दननिष्ठा इसी निष्ठा के अंतर्गत है या इससे भिन्न है।

मस्तराम-भाई ! शरणागति और आत्मनिवेदन एक ही बात है और वन्दन निष्ठा भी इसी का नाम है क्योंकि वन्दन का अर्थ वारे जाने का यानी निछावर होने का है और शरणागति में इतना ही भेद है कि वन्दन तो बाहर निछावर और अर्पण होने का कहते हैं और शरणागति बाहर और भीतर दोनों अर्पण और भेट करने का नाम है। जिस प्रकार कीर्तन और स्मरण यद्यपि दोनों एक हैं, तो भी कीर्तन तो उसको कहते हैं कि जो भगवत् का नाम और भजन केवल मुख से हो और स्मरण उसका नाम है कि जो मन से हो दोनों का तात्पर्य

एक ही है. मन से हो या वचन से हो, इसलिये स्मरण भी कीर्तन निष्ठा में वर्णन किया गया है, इसी प्रकार वन्दन भी शरणागति के अन्तर्गत है। जैसा ऊपर कहा शरणागति और आत्म निवेदन भी एक ही है। कोई २ उपासक शरणागति को भगवत् की प्राप्ति का मुख्य हेतु मानते हैं और कहते हैं कि भगवत् दो प्रकार से मिलते हैं, एक तो भक्ति से और दूसरे शरणागति से. भक्ति के योग्य तो केवल वे लोग हैं कि जिनको अपने परिश्रम और उपाय का भरोसा है कि इस जन्म में अथवा दश या पचास जन्म में अपने पुरुषार्थ अर्थात् भगवत् आराधन इत्यादि से निश्चय भगवत् को प्राप्त होंगे। ये लोग भजन के विश्वास से यमराज आदि का कुछ भय नहीं रखते। यदि इस जन्म में उनका मनोरथ पूर्ण न हो, तो होने वाले जन्मों से आगे को यह भय नहीं है कि हमको भगवद्भक्ति न होगी, क्योंकि भगवद्गीता के वचनानुसार अनेक जन्मों में मनुष्य सिद्धि को प्राप्त होकर परम शान्ति को प्राप्त होता है। दूसरा वचन यह है कि हे अर्जुन! मेरे भक्त का नाश नहीं होता। ऐसे हजारों वचन भागवत्, गीता और पुराणों में हैं। और शरणागति वह वस्तु है कि जिसमें भगवत् में दृढ़ विश्वास करके भगवत् के शरण हुआ और लोक परलोक का बोझा भगवत् के ऊपर डाल दिया कि उसी घड़ी से उस जन को न किसी उपाय का प्रयोजन है, न पुरुषार्थ का यदि पुरुषार्थ और उपाय का भरोसा रहा, तो उसके शरण होने में कमाई है. उस का नाम शरणागति नहीं और न शरणागति का फल उसको मिलता है। जिस प्रकार हनुमान जी को रावण के बेटे इन्द्रजीत ने जब ब्रह्मफांस में बांध लिया, तो यद्यपि ब्रह्मफांस एक पतलीसी रस्सी थी परन्तु इन्द्रजीत को विश्वास था कि इस ब्रह्म फांस से कभी नहीं छूटेगा। उसके विश्वास के अनुसार हनुमान जी बन्ध गये और उन्होंने छूटने का कोई उपाय नहीं किया, जब उसका विश्वास जाता रहा और उसने मोटे रस्सों से हनुमान जी को बाँधा, तो वे उस ब्रह्मफांस और रस्सों को तोड़ कर निकल गये, इसी प्रकार भगवत् शरण होकर यदि कोई और भी उपाय मुक्ति के हेतु समझा, तो शरणागति का रूप नहीं रहा।

हे मंसाराम! भक्तिमार्ग में चलने वालों का यह सिद्धान्त है कि श्रवण कीर्तन आदि जो भगवद्भक्ति के अंग हैं, उनमें विशेष प्रेम होना चाहिये, उस प्रेम का दृढ़ हो जाना भक्ति का फल है. उसके आगे कुछ कर्तव्य शेष नहीं रहता और न किसी साधन का प्रयोजन रहता है। जैसे घड़े के घट, कलश, कुम्भ आदि अनेक नाम हैं, उसी प्रकार शरणागति और आत्म निवेदन एक ही वस्तु के नाम हैं और उसी को प्रपत्ति, न्यास और त्याग भी कहते हैं, केवल कहना मात्र भेद है कि भक्तिमार्ग वालों ने तो शरणागति को भक्ति का एक अंग समझा है अर्थात् वे यह कहते हैं कि भगवत् शरण होकर दास्य, वात्सल्य, शृङ्गार अथवा श्रवण कीर्तन इत्यादि भक्ति का करना योग्य है, क्योंकि भक्ति से उद्धार होता है और शरणागति के उपासकों ने शरणागति को ही उद्धार का मुख्य हेतु समझा है, उनका कहना है कि शरणागति के पीछे किसी अन्य साधन का प्रयोजन नहीं, शरणागति ही दोनों लोकों का सब कार्य कर देती है। तो यह दोनों मार्ग वालों का निश्चय बताया, परन्तु जब कि शरणागति के उपासकों की सेवा, पूजा, श्रवण, कीर्तन आदि बिना शोभा नहीं और श्रवण कीर्तन के उपासकों की शरणागति बिना दूसरा उपाय नहीं, तो कथन मात्र का ही भेद है। यह नाम मात्र का भेद विश्वास

बढ़ाने के लिये है।

हे मंसाराम! शरणागति निष्ठा की महिमा कौन कह सका है? कोई नहीं कह सका, क्योंकि सब प्रकार की भक्ति का सार और फल शरणागति अर्थात् आत्म निवेदन है। भगवत् ने भागवत के चौथे स्कंध में पुरंजन की कथा में कहा है कि सखा और आत्म निवेदन का मैं स्वयं उपदेश देता हूं। इससे सिद्ध होता है कि शरणागति भक्ति का सार और फल है। जहां तक जो मन्त्र देखने में आते हैं, सब में शरणागति को मुख्य कहा है। विचरण उसका यह है कि बहुत से मन्त्रों में तो स्पष्ट पद शरणागति का दिया है कि मैं श्रीकृष्ण की, नारायण की या रामचन्द्र की शरण हूं और बहुत से मंत्रों में नमस्कार लिया है और नमः का अर्थ दण्डवत् और वन्दन करने का है और वन्दना का तात्पर्य अपने अपको या भेंट निवेदन करना शरीर से है, जिसको वारे जाना या निछावर होना कहते हैं। तब कि दण्डवत् करना शरणागति और आत्म निवेदन एक ही बात है, और एक ही परिणाम है, तो निश्चय हो गया कि सब मन्त्र भगवत् शरणागति को ही ज्ञापन करते हैं और शरणागति ही सर्वत्र मुख्य की गयी है। जब कि सब प्रकार की भक्ति और उपासना का निश्चय केवल मंत्र के ऊपर है और मंत्रों से शरणागति की बड़ाई दृढ़ होती है, तो सब उपासना और भक्ति मार्गों में शरणागति के मुख्यतर होने में क्या संदेह रहा। कुछ भी संदेह न रहा। सिवाय इसके सब ग्रन्थों से शरणागति की बड़ाई इतने में दृढ़ होती है कि भगवत् ने गीता में कहा है कि जो मेरे शरण होते हैं, वे मेरी माया को तरते हैं।

हे मंसाराम! जब श्रीकृष्ण भगवान अर्जुन को ज्ञान, भक्ति, वैराग्य, योग और कर्म का उपदेश दे चुके तब उन्होंने आज्ञा की कि जो सब से अत्यन्त गुप्ततम बात है, उस मेरे परम वचन को सुन तुझ से कहता हूं क्योंकि तू मेरा प्यारा, सखा और बुद्धिमान् है, सब धर्मों को छोड़ कर तू मेरे एक के शरण हो, मैं तुझे सब पापों से मुक्त कर दूंगा, सोच मत कर। इस शरणागति के उपदेश के पीछे और कोई उपदेश भगवान् ने नहीं किया, इससे सिद्ध हो गया कि सब की अन्तिम पराकाष्ठा शरणागति है, उसके आगे अब अन्य कोई भागवत धर्म नहीं, शरणागति में भक्ति का पर्यवसान है अथवा सब उसके अंग हैं।

हे मंसाराम! जब विभीषण भगवत् शरण आया, तो सुग्रीवादि ने उसको बन्दीघर में डालने की सम्मति दी। भगवत् ने कहा कि जो कोई मेरी शरण होकर यह कहता है कि 'मैं तेरा हूं' उसको मैं संपूर्ण लोकों से निर्भय कर देता हूं, यह मेरी प्रतिज्ञा है। यह अर्थ वाल्मीकीय रामायण के श्लोक का है और ये दोनों श्लोक अर्थात् गीता के अन्त के और वाल्मीकीय रामायण के मंत्र का एक ही अर्थ है। इन भगवत् के वचनों से भली प्रकार सिद्ध हो गया कि शरणागति ही उद्धार करने के लिये समर्थ है इसके सिवाय शास्त्रों से प्रसिद्ध है कि गजेन्द्र और विभीषण ने कोई साधन नहीं किया, ये दोनों केवल भगवच्छरण हुए थे, उसी के प्रभाव से दोनों लोकों को प्राप्त हुए।

हे मंसाराम! जगत् में प्रसिद्ध चाल देखने में आती है कि कोई कैसा भी पापी और नीच किसी के शरण जाता है, तो उसके अवगुण और अन्याय पर कदापि दृष्टि नहीं की जाती, सब से पहिले उसके कार्य सिद्ध होने पर दृष्टि होती है, इसी प्रकार यदि या तो सब के भरोसे को छोड़ कर भगवत् शरण होगा, तो परमात्मा जो सब बातों

को जानता है, वह उसके दोनों लोकों के मनोरथ क्यों नहीं पूर्ण करेगा ? अवश्य करेगा ! इस प्रकार विचार, दृष्टान्त, रीति और प्रमाण से भले प्रकार निश्चय हो गया कि भगवत् शरणागत उद्धार के लिये स्वयं समर्थ और स्वतंत्र है, अन्य साधन का प्रयोजन नहीं है।

हे संसारगम ! शरणागति का वास्तव स्वरूप तो यह है कि दोनों लोकों की प्राप्ति का चिन्ता और शोच अपने शरीर पर से दूर करके अपना सब बोझ भार भगवत् के ऊपर डाल कर अपने आपको भगवत् के समर्पण कर देना और हर घड़ी यह दृढ़ विश्वास बनाये रहना कि भगवत् शरणागति से इस लोक और परलोक के सब काज आप से आप हो जायंगे, मेरी चिन्ता स्वयं भगवत् को है। जिस समय जो भगवत् के शरण होता है, उसके अनेक जन्मों के पाप उसी क्षण दूर हो जाते हैं। फिर भी कोई कोई छः प्रकार के भेद इस शरणागति के बताते हैं। प्रथम यह कि शरणागति के समय से मरण पर्यन्त जो भागवत धर्म शास्त्रों में कहे हैं, उनका आचरण करना, दूसरे जो भागवत् धर्म से विरुद्ध धर्म हैं और शास्त्रों में जिनका निषेध किया है, उनका त्याग करना और भगवद्भक्तों में प्रीति और उनकी सेवा करना, तीसरे यह विश्वास दृढ़ रखना कि मैं जो भगवत् के शरणागत हूं, भगवत् मेरे सब अपराधों को अवलोकन न करके निश्चय क्षमा करेंगे। चौथे यह कि सिवाय एक भगवत् के दोनों लोकों में किसी को रक्षा और कल्याण के लिये स्वप्न में भी न समझना। पाँचवां यह कि भगवत् की शालग्राम इत्यादि मूर्ति अथवा भगवत् के मानसी स्वरूप के आगे खड़ा होकर अपनी दीनता और अपना अपराध वर्णन करना कि हे प्रभो ! मैं अपराधी और दीन हूं सिवाय आपके मेरा कोई ठिकाना और सहारा नहीं है, आप जो पतितपावन और दीनवत्सल हैं, तो मैं भी आप से एक सम्बन्ध रखता हूं कि मुझ से अधिक पतित और दीन कोई नहीं है, मेरा उद्धार आप से ही होगा। छठा अपने आपा अर्थात् अन्तर और बाहर की ममता सब भगवत् समर्पण कर देना। इस प्रकार की शरणागति निःसन्देह दूसरे किसी साधन बिना इस संसार समुद्र से एक क्षण में पार उतार देती है।

एक भक्त प्रार्थना करता है-हे श्रीकृष्णस्वामी ! हे दीनवत्सल ! हे पतितपावन ! हे अधमोद्धारण ! महाराज ! जैसा हूं, आपका हूं, मेरे ऊपर भी कृपा की दृष्टि हो कि आपका चिन्तवन रात दिन करता रहूं, जो स्वरूप वैकुण्ठ का धाम निष्ठा में लिखा है, उसके मध्य में निजधाम जो भगवत् के विहार करने का है, जिसके हजार खम्भ हैं, जिसके सब द्वार दीवार प्रकाश करते दिव्य मणियों के जड़े हुए हैं, उसके बीच में सहस्र दल कमल हैं, सब दल मंत्र रूप हैं अर्थात् जितने देवताओं के मन्त्र उन दलों पर लिखित और अंकित हैं, उनके ऊपर शेष जी महाराज शय्या के समान हैं और शेषजी के ऊपर श्रीलक्ष्मी नारायण परम शोभा और माधुर्य के धाम विराजमान हैं। भगवत् के परम देदीप्यमान स्वरूप और प्रकाश के आगे करोड़ों सूर्य और चन्द्रमा यदि एक साथ उदय हो कर एक बार प्रकाश करें, तो करोड़वें अंश की बराबरी न हों, चरणकमलों के नख, जिनका शिव ब्रह्मादिक ध्यान करके कृतार्थ होते हैं और जिनको शास्त्रों ने मुक्ति का स्थान लिखा है, ऐसा प्रकाश करने वाले हैं, मानों भक्तों के हृदय को प्रकाश करने के लिये करोड़ों महामणियों के पुंज हैं और चरणतल से उन चरणों की इतनी लाली है कि जितनी ज्योति और शोभा सब ब्रह्मांडों में है, वह सब शोभा उसी

सम्बन्ध से है। पैरों में कड़े और घुँघरू विराजमान हैं, पीताम्बर धारण किये हुए हैं, उसके ऊपर क्षुद्र घण्टिका, यज्ञोपवीत, शोभायमान मणिगण, तुलसी मंजरी, फूलों की माला, कौस्तुभमणि कण्ठ में है, उनके ऊपर भँवर गूँज रहे हैं, चारों भुजाओं में कड़े, पहुंची, बाजूबन्द आदि आभूषण, और शंख, चक्र, गदा, पद्म शोभायमान हैं, मुखारविन्द देदीप्यमान है और भाल पर तिलक शोभित है, मकराकृत कुण्डल कानों में हैं, शरीर पर जड़ाऊ किरीट है, पीताम्बर आदि की मनमोहिनी पहिरन हैं, श्री वत्सचिन्ह वक्षस्थल पर है और लक्ष्मी जी वाम भाग में वैसी ही शोभा से विराजमान चरण सेवा में हैं और विष्वक्सेन आदि पार्षद कैंकर्य में तत्पर है।

कथा अक्रूर जी की।

अक्रूर जी को शास्त्रों ने वन्दननिष्ठा के उपासकों में लिखा है। यह यदुवंशियों में सुफलक के पवित्र पुत्र थे। यद्यपि इनका संयोग महाकुसंग में था यानी कंसके राजकाज में था परन्तु यह भगवच्चरणों में दृढ़ विश्वास रखते थे, इसलिये वह कुसंग इनकी कुछ हानि नहीं कर सका था, वरु उन कुसंगियों को अक्रूरजी का फरताथी और आयुबल का कारण था।

जब कंस ने श्रीव्रजचन्द महाराज के ले आने के लिये अक्रूर जी को भेजा तो वे अति आनन्द से शरीर में फूले न समाये, इस आशा से कि इस बहाने से उन चरणों को देखूगा, जो चरण शिव और ब्रह्मादिक के स्वामी और नायक हैं और उस चन्द्रमुख को देख कर मेरी आंखें शीतल और सफल होंगी कि जिस मुख के देखने के लिये सब वृत सुन्दरियां चकोर सी होकर अनूपरूप सुधा के पान से तृप्त नहीं होती, यह ही इच्छा करती हैं कि देखती ही रहें। जब मैं भगवान् को दण्डवत् करूंगा, तो वे इन हस्त कमलों से मुझ को हृदय से लगावेंगे कि जिनकी छाया कल्पवृक्ष के समान सदा भक्तों के शिर पर रही है। ऐसे मनोरथ करते हुए जब ए श्रीवृन्दावन के निकट पहुंचे, तो व्रजभूषण महाराज के चरणकमलों के चिन्हों को पहचान कर प्रेम और स्नेह के आनन्द से अत्यन्त वे सुधि हो गये और उन चिन्हों को अपने स्वामी और इष्टदेव जान कर उन्होंने दण्डवत् किया, उसी उमंग और प्रेम में मग्न हो जहां २ चरण चिन्ह देखे वहां वहां दण्डवत् की और प्रेम के रस में छके हुए वे श्रीनन्द जी के घर पर पहुंचे।

श्रीभक्तवत्सल महाराज ने उनके हृदय की प्रीति पहिचान कर उनकी इच्छा पूर्ण की और बलदेव जी सहित वे अतिभाव से उनसे गले लग कर मिले। जब प्रभात को नन्दजी श्रीकृष्ण महाराज और बालगोपालों सहित घर से चल कर श्रीयमुना जी पर पहुंचे तो अक्रूर जी को प्रेमवश यह संदेह हुआ कि श्रीकृष्ण महाराज और बलदेव जी परम सुकुमार और शोभायमान बालक हैं, मैं बड़ी मूर्खता कर रहा हूं कि निर्दय और महाबलवान् मल्लों के झुण्ड में कंसकी सभा में ले जा रहा हूं। श्रीकृष्ण महाराज को यह सन्देह दूर करना उचित मालूम हुआ और जब अक्रूर जी स्नान करने लगे तो उन्होंने यह चरित्र देखा कि कई बार भगवत्, बलदेव जी को सब समाज सहित यमुना जी में और बाहर रथ पर देखा और फिर यह देखा कि आप भगवत् शेषशय्या पर श्याम सुन्दर रूपरूप किरीट मुकुट, मकराकृत कुण्डल कौस्तुभमणि और सब आभूषण सब अंगों में धारण किये हुए, पीताम्बर पहने हुए और शंख, चक्र, गदा, पद्म हाथों में

लिये हुए विराजमान हैं, ब्रह्मा, शिव, यम, काल, यक्ष, राक्षस गंधर्व आदि भय और आश्चर्य युक्त चारों ओर खड़े हुए स्तुति कर रहे हैं, और जो कभी देखा सुना नहीं था, वह भी उनके देखने में आया। यह देख कर अक्रूर जी का संदेह तुरन्त दूर हो गया। यमुना जी से बाहर आकर उन्होंने अति प्रेम से भगवान् को दण्डवत् की और मथुरा को रथ हांका।

कंस का वध होने के पीछे आप भगवान् ने अक्रूर जी के घर चरण ले जाकर और भक्ति का वर देकर कुल परिवार सहित उनको कृतार्थ कर दिया। जब भगवत् द्वारका को पधारे तो यादवों को अक्रूर जी का प्रताप और उनकी भक्ति न जानने के कारण उन पर वे अविश्वास और उनके साथ शत्रुता हो गई और स्यमन्तमणि के विषय में भगवत् की आज्ञानुसार अक्रूर जी काशी को चले गये। इनके जाते ही द्वारका में ऐसा उपद्रव उठा और दुर्भिक्ष पड़ा कि सब लोग दीन हो गये। जब अक्रूर जी आये तब सब उपद्रव शान्त हुआ।

हे मंसाराम! एक और भी भक्ति का प्रताप विचारने और कहने योग्य है कि स्यमन्तमणि का ऐसा माहात्म्य था कि जहाँ वह होता, वहां आठ भार सोना नित्य आप से आप जमा हो जाता था और दरिद्रता आदि कोई उपद्रव वहाँ निकट नहीं आता था परन्तु उसमें दोष भी ऐसा था कि जिसके पास वह रहा, उसकी उसने हानि ही की, पहिले सत्राजित मारा गया, जब उसका भाई उसे लेकर भागा, तो वह भी मरा जब जाम्बवान के पास रहा तो वहाँ भी यद्यपि भक्ति होने के कारण से बहुत उपद्रव न कर सका, तो भी जाम्बवान् को पराजय प्राप्त हुआ। जब भगवान् के पास आया, तो बलदेव जी को भगवत् के ऊपर संदेह उत्पन्न हो गया। जब अक्रूर जी के पास गया, तो उस स्यमन्तमणि का सब दोष दूर हो गया और पूर्ण फल मंगल हुआ। ऐसे चरित्रों से भगवत् अपनी भक्ति का प्रताप दिखाते हैं, नहीं तो सब जानते हैं कि भगवत् एक निमेष में करोड़ों ब्रह्मांड प्रकट करके फिर नाश कर देते हैं, उनको दोष गुण से क्या प्रयोजन है। सच कहा है:-

कुं:-अच्युत निष्कल एक रस, अखिल विश्व आधार।
भक्तन के हित देह धरि, लीला करत अपार॥
लीला करत अपार, भक्त सज्जन जन पालत।
हरत भूमि का भार, दुष्ट पापिन कूं घालत॥
भोला! भज श्रीकृष्ण, करी लीलायें अद्भुत।
अपनाया अक्रूर, देव शाश्वत अज अच्युत॥

कथा विंध्यावली की।

विंध्यावली राजा बलि की पटरानी परम भक्तिनी और पतिव्रता थी। जिस समय राजा बलि से वामन जी ने तीन डग धरती की याचना की और शुक जी ने समझाया कि यह विष्णु नारायण हैं, तो यह सुनते ही यह रानी निर्भर प्रेम में मग्न हो गयी और अपने और राजा के भाग्य की बड़ाई करते हुई जल का लोटा लेकर बारंबार राजा से कहने लगी कि संकल्प करो, संकल्प करो। ऐसा करने का कारण यह था कि कहीं ऐसा न हो कि शुक जी के कहने से राजा का मन दान से फिर जाय। संकल्प होने के पीछे जब भगवत् ने दो डग से दोनों लोक नाप लिये और तीसरे डग के लिये राजा को बांध लिया, तो रानी को उस घड़ी राजा के बन्धने का शोक और दुःख तनिक भी न हुआ, वरन यह आनन्द हुआ कि राजा बड़ा भाग्यवान है कि उसको भगवत् के चरणों और हाथों का स्पर्श हुआ। ऐसा विचार कर रानी भगवत् से विनय

करने लगी कि हे नाथ हे कृपासिंधो ! आपने इस राजा पर जो कुछ करुणा और दया की है उसका वर्णन किस प्रकार हो सके कि एक राज्य और तुच्छ धन के अभिमानी को आपने स्वयं पधार कर दर्शन दिया और कुल परिवार सहित पवित्र कर दिया। पश्चात् रानी ने विचारा कि राजा का राज्य और धन भगवत् भेंट होने से सफल हो गया परन्तु मुझे और राजा को देहाभिमान बाकी है, यदि यह भी भगवत् अर्पण हो जाय, तो आगे अन्य देह के होने का बखेड़ा मिट जाय, ऐसा विचार कर जब राजा ने अपने शरीर के नापने को कहा, तो रानी ने भी विनय किया कि महाराज ! मेरा अंग भी शास्त्र वचन से राजा का आधा अंग है, इसलिये राजा का और मेरा शरीर एक डग के बदले में नाप लीजिये। भगवत् ने जब रानी का आत्मनिवेदन में ऐसा प्रेम देखा और राजा के दृढ़ विश्वास पर दृष्टि की तो ऐसी कृपा की कि जिस का वर्णन नहीं हो सका। उसका थोड़ा सा वृत्तांत राजा बलि की कथा में कह आया हूं। भगवत् की वह कृपा रानी की परम भक्ति और उसके आत्म निवेदन के कारण से हुई थी।

कुं:—रानी विध्यावली सी, को भया है अन्य।
पति समेत ली हरि शरण, हुई विश्व में धन्य ॥
हुई विश्व में धन्य, स्वयं भगवत सकुचाये।
बैठे अब तक द्वार, राव रानी अपनाये ॥
भोला ! से ही धन्य, देह मन वच से प्राणी।
शरण ईश की लेय, यथा बलि की पट रानी।

धर्म और उसकी परिभाषा

[ले० श्री दिवान रामचन्द्र जी कपूर]

संसार में मनुष्य सृष्टि एक प्रधान सृष्टि है। जिस प्रकार पांचों तत्वों में एक प्रकार का संगठन है और उन पर किसी शक्ति का नियन्त्रण है उसी प्रकार पंचभौतिक मानव संसार के संगठन के लिए उस पर धर्म्म का नियन्त्रण है। यह नियंत्रणा इसलिए है कि जिसमें कोई एक जीव किसी दूसरे जीव से यथा स्थान यथा काल तथा यथा व्यक्ति भाव का ध्यान रखते हुए आपस में उचित मिलाप कर सके अथवा आवश्यकतानुसार उचित विग्रह भी कर सके। कोई भी व्यक्ति हो उसके साथ यह बात अवश्य लगी रहेगी कि इस संसार में उसका क्या स्थान है ? उसका क्या कर्तव्य है ? उसके जीवन का उद्देश्य क्या है ? वो क्यों कर ऊंचा हो सका है ? इत्यादि इन प्रश्नों के हल कर लेने पर जो यथेष्ट उत्तर होगा वही उसका धर्म्म होगा। परन्तु इतना ही कह देने से धर्म्म की कुल व्याख्या समाप्त नहीं हो सकती। धर्म्म का प्रश्न सब प्रश्नों से जटिल है और उसका हल होना असंभवसा है परन्तु समय को देखते हुए भूत वर्तमान और भविष्य का अनुभव करते हुये यह जाना जाता है कि धर्म्म सार्वभौम नियन्त्रण चक्र का नाम है। इस सार्वभौम नियन्त्रण चक्र के अन्तर्गत मनुष्य के उचित व्यवस्था के लिये मानव धर्म्म है। इस मानव धर्म्म के देश काल पात्रानुसार कई विभाग किये जा सकते हैं। प्राचीन ऋषियों ने इस विषय की खोज में अपने जीवन का बहुत कुछ अंश लगा दिया और

अपने परिश्रम के फल को लोकोपकारार्थ प्रकट करने के लिये तनिक भी संकोच नहीं किया। उन्हीं के परिश्रम का यह फल है कि आज दिन हम अपने कर्तव्य की खोज में उनके बनाये हुये शास्त्रों का सहारा लेकर अपने उद्देश्य की सिद्धि कर सकते हैं। हमारे सामने जितने ग्रन्थ उपलब्ध हैं उनके धर्म्म सम्बन्धि निर्णयों का पूर्णतया ज्ञान प्राप्त कर लेना सरल नहीं है तिस पर भी जो सरल वाक्य हैं उनके सहारे ही हम में बहुत कुछ धर्म्म की समझदारी पैदा हो सकती है। धर्म्म सम्बन्धि उपदेशों का एक ही श्लोक में बहुत कुछ ज्ञान प्राप्त होता है वह यह महाभारत का श्लोक है:-

प्रभवार्थाय भूतानां धर्म प्रवचनं कृतम्।
यः स्यात्प्रभव संयुक्तः स धर्म इति निश्चयः॥
धारणाद्धर्ममित्याहुर्धर्मेण विधृताः प्रजाः।
यः स्याद् धारण संयुक्तः स धर्म इति निश्चयः॥
सर्वेषां यः सुहन्नित्यं सर्वेषां च हिते रतः।
कर्मणा मनसा वाचा स धर्म वेद जाजले॥

जीवों के उद्धार के लिये धर्म्म की कल्पना की गई। यह निश्चय जानो कि जिससे भला हो वही धर्म्म है।

धर्म्म की उत्पत्ति धारणा शब्द से है जिसके आश्रित हों तथा जिस आश्रय से जनसाधारण की वृद्धि हो वही धर्म्म है।

जो सब का मित्र है और जिसका मन, वचन और कर्म जीवों की भलाई के लिये अर्पित है, हे जाजले! वही धर्म्म को पहचानता है।

उपरोक्त व्याख्या की छाया के अनुसार धर्म्म उस नियम का नाम है कि जिसके अनुसार चलने से जन साधारण में अमन चैन स्थापित होता हो, एक से एक का सम्बन्ध यथा स्थान तथा भाव न्याय युक्त हो।

धारण का अर्थ है अङ्गीकार करना, अर्थात् अङ्गीकार की हुई ऐसी बात कि जिस से जीवों की पारस्परिक भद्रता पूर्वक वृद्धि हो उसको धर्म्म कहते हैं। संक्षेपतः कहने का तात्पर्य्य यही है कि धर्म्म एक सार्वभौम वस्तु है कि जिससे एक का एक के साथ सम्बन्ध तथा विच्छेद आपस की वृद्धि के लिये होता है।

प्रत्येक क्रिया वा वस्तु जांचने के लिये एक न एक कसौटी रखनी ही पड़ती है, इसलिये वृद्धि की कसौटी यही है कि संसार में संसार की शांति को न बिगाड़ते हुये जिसको जैसा होना चाहिये वह वैसा हो जाय।

उपरोक्त व्याख्या के अनुसार धर्म्म के नियम ऐसे होंगे जो प्रजा में सार्वभौम दृष्टि से एक समान बरते जा सकें परन्तु ऐसे नियम जो सर्व देश सर्व काल और सर्व पात्र के लिये एक हों बहुत सूक्ष्म और कम होंगे। हमें धर्म्म निर्णय के लिये देश, काल तथा पात्र का भी बहुधा विचार करना पड़ेगा। इसका कारण यह है कि इस संसार में जितने जीव हैं सब कर्मानुसार भिन्न २ रुचि तथा पद के हैं। देश काल और पात्रानुसार इनका पृथक् २ शासन हुये बग़ैर आपस का शांति-मय उचित सम्बन्ध तथा विच्छेद स्थापित नहीं हो सकता। एक रोगी को आरोग्य करने के लिये ठण्डी औषधि और दूसरे को उष्ण दी जाती है। नगर में किसी व्यक्ति को मार डालने के अपराध में प्राणदण्ड दिया जाता है और घोर संग्राम में मारने जैसी भयंकर क्रियाओं का यशगान किया जाता है। मारना क्रिया दोनों स्थिति में एक ही है परन्तु देश काल और पात्रानुसार उसका धार्मिक निर्णय किया जाता है। लक्ष्य और उद्देश्य, भद्र

तथा उचित होने पर उसकी सिद्धि के लिये किसी भी व्यापार का करना धार्मिक ही कहलाता है। औषधि चाहे जो हो, पथ्य चाहे जो हो, उद्देश्य निरोग्यता का है।

कोई देश यदि अपने धर्म्म निर्णय करने में भूल करता है तो वह संसार में अपना उचित स्थान पाने का स्वत्व खो बैठता है। जितने भी दुःख हैं सब अनिष्ट के संयोग से होते हैं। अनिष्ट तभी होता है जब इष्ट का वियोग होता है और इष्ट का वियोग अधर्म्म से होता है। इसलिये यह आवश्यक है जो देश सुख और वास्तविक ऐश्वर्य्य चाहता है वह धर्म्म रहस्य को भली भाँति समझ कर अपने स्वत्वों की रक्षा धर्म्म द्वारा करे।

धर्म्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः।

अनेक अन्तःकरण के स्वभाव पर नियन्त्रण करके उनको एक चिरस्थायी सुखी बनाने के लिये धर्म्म पथ के मेरी समझ से साम्प्रदायिक, सामाजिक, राजनीतिक और साधारण भेद करके चार सरल विभाग हो सकते हैं जिनमें से तीन ३ तो देश काल और पात्रानुसार बदते जाते हैं और चौथा सर्व देश सर्व काल और सर्व पात्र में एक समान बरता जा सकता है। हम पाठकों की सेवा में साम्प्रदायिक धर्म के विषय में इस लेख में कुछ निवेदन करेंगे।

हम कौन हैं? कहां से आये हैं? और कहां जायंगे? इत्यादि जिज्ञासा जब मनुष्य के हृदय में होती है उसी समय उसके साम्प्रदायिक धर्म्म की नींव पड़ जाती है। जिन महापुरुषों ने इन प्रश्नों का सन्तोष जनक उत्तर निकाला अथवा जिनको संसार के गूढ़ रहस्यों और प्रकृति के धन्धों का विशेष ज्ञान प्राप्त हुआ वे किसी विशेष सम्प्रदाय के प्रवर्तक कहलाये। उनका ज्ञान पारलौकिक विषय में उत्कृष्ट तथा पूर्ण था। उपनिषत् षट दर्शनादि शास्त्र शुद्ध सांप्रदायिक धर्म्म शास्त्र हैं। इनमें किसी प्रकार के सांसारिक कल्पित नियमों का ध्यान नहीं दिया गया केवल परलोक सिद्धि के अर्थ कुल सच्चे सिद्धान्तों का वर्णन किया गया है। इन ग्रंथों के आचार्यों ने सांसारिक प्रवृत्तियों से अलग रहते हुए ब्रह्म, आत्मा, जीव, अन्तःकरण, इन्द्रियां, ब्रह्माण्ड, विश्व, पंचतत्व प्रकृति, जड़, चैतन्य, गुण, स्वभाव, विस्मृति, संकीर्णता, ऊर्ध्वगति, नीच गति, आकर्षण, विकर्षण, स्थिति भेद, परिवर्तन, प्रकट, लुप्त, सम, विषम, काल, परिणाम, परिमाण, स्थूल, सूक्ष्म, संयोग, दैव कर्ता, कर्म्म, क्रिया, ज्ञान, उपासना, कर्म्मकाण्ड, जीवन, मरण, सत्य, मिथ्या, सुख, दुःख, बन्धन, मोक्षादि प्रश्नों को हल कर डाला। उक्त सिद्धान्तों के अनुसार मनुष्य अपने जीवन के उद्देश्य को पूरा कर सका था। उक्त सिद्धान्तों के साथ साथ देश भेद से कुछ ऐसे भी नियम कर दिए गए थे जिनके द्वारा मनुष्य उक्त सिद्धान्तों के परिपालन में समर्थ हो सका था। सदाचार और संस्कारों और आश्रमों के निर्माण करने का उद्देश्य कदाचित् यही था इनके सहारे मनुष्य आपस के सिल सिले को ठीक रखते हुए कर्म्म सिद्धान्तानुसार ईश्वर या मोक्ष प्राप्ति की ओर सदा लगा रह सका था। वैदिक और दार्शनिक काल के आगे चल कर प्रजा में आपस का मनमुटाव होने पर और बुद्धि बल के ह्रास के कारण प्रजा में एक ब्रह्मोपासना, वेदान्त तत्व प्रतिपादन, योगाभ्यासादि के स्थान पर देवी देवताओं की उपासना को विशेष आयोजना की गई। भक्ति मार्ग पर विशेष दृष्टि डाली गई और भक्ति मार्ग के कई प्रकार और भेद देश काल पात्रानुसार रचे गए। पहिले जो योगाभ्यास, ज्ञान वैराग्य स्तम्भरूपी सन्यस्थ आश्रमों

का पालन, एकान्त और शान्तिमय स्थानों में किया जाता था अब गिरोह बन्दियों साँप्रदायिक संगठनों, बहुत भारी प्रभावशाली सुन्दर दृश्यात्मक मन्दिरों मठों की भरमार से उच्छृङ्खल सा हो गया।

प्राचीन काल में अर्थात् वैदिक और दार्शनिक काल में साम्प्रदायिक धर्म्म का सर्वथा स्वरूप था। कोई मनुष्य चाहे किसी भी दार्शनिक मत का अनुयायी हो या उनके परलोक सम्बन्धि विचार चाहे जो हों, एक ही कुल में अलग अलग उपासना का अनुगामी हो तिस पर भी वह एक ही वर्ण व्यवस्था के अन्दर अथवा एक ही सामाजिक गिरोह के अंदर एक ही जाति का हो सका था। इस बात का प्रमाण यही है कि इस देश में अनेक शास्त्रनिर्माताओं के भिन्न भिन्न विचार व सिद्धान्त थे। एक ही कुल या जाति के दो या अधिक व्यक्तियों के दार्शनिक परलोक सम्बन्धि विचार उनके किसी सामाजिक धर्म या राष्ट्र धर्म्म के बाधक नहीं थे। दार्शनिक मत मतान्तर होते हुए भी घट घट में शान्ति विराजती थी। क्यों कि प्रायः लोगों की चेष्टा अत्यन्त दुःख की निवृत्ति के लिए ही होती थी। संक्षेपतः कहने का अभिप्राय यही है कि राष्ट्रभाव तथा सामाजिक नियमों के परिपालन के ढंग कुछ दूसरे थे और दार्शनिक या साम्प्रदायिक धर्म रहस्य की परिकाष्ठा कुछ दूसरे ढंग से की जाती थी। परलोक सिद्धि के अर्थ इहलोक कुछ सदाचार के नियम अवश्य रचे गए परन्तु इस स्थिति में सामाजिक नियमों से साम्प्रदायिक संस्कारों का अनिवार्य्य सम्बन्ध नहीं था। इस विषय में लोग स्वतंत्र थे। यह काल आदर्श था। धार्मिक प्रवृत्ति तथा आत्म भाव चार दिवालों, बड़ी बड़ी इमारतों, में घूमने फिरने लगा। पारलौकिक विश्वासभंग घंटे गुरुओं तथा तर्क हीन श्रद्धा के आधीन हो गया। शैव वैष्णव राधावल्लभ सिक्ख कबीरी आदि अनेक सम्प्रदायों का उद्घाटन हुआ और अनेक पंथ के होने से कोई एक ढंग उपासना अपना आत्मतृप्ति का न रह सका। प्रजा की बुद्धि भ्रमात्मक हो गई। एक एक पंथ व उपासना के कुल परंपरागत मत हो गए जिसका प्रभाव यह हुआ कि किसी एक कुल में उत्पन्न व्यक्ति यदि आत्मीय उन्नति करना चाहे तो लोग उसे नास्तिक कह देते थे। आत्मविकाश व दार्शनिक उन्नति एक दम रुक गई। इसी समय भारत दुर्भाग्य से मुहम्मदी मत फैला। राजनीति की दृष्टि से परसियों ने इस मत को यहां फैलाया। यहाँ की प्रजा तो आपस के बखेड़ों और धार्मिक झगड़ों में उलझी ही थी एक नवीन मत के आने से और गड़बड़ी पड़ गई। दारेइस्लाम तो किसी भी हालत में साम्प्रदाय वाद के अन्तरगत होही नहीं सका। यह मत तो केवल खूंखार अरब बाशिन्दों के ऊपर प्रभुता प्राप्ति के लिए चलाया गया था। इस इस्लाम मत से संसार की साम्प्रदायवाद की अवन्नति ही होती गई। ईश्वर की प्राप्ति के अर्थ जो विवेक युक्त सिद्धान्तों का पालन किया जाता है वही सही साँप्रदाय वाद है। मोहमद का यह कहना कि (१) मूर्त्ति पूजा पाप है (२) ईश्वर एक किसी अंश में साम्प्रदाय धर्म्म के अन्तरगत कहा जा सका है परन्तु यह कि जो मेरे मत को न माने व काफिर मेरे मत के विरुद्ध अनुयायियों को मारना पुण्य इत्यादि सिवाय प्रमारद व प्रभुत्व प्राप्ति लालसा के और कुछ नहीं माना जा सका। असल में मोहमदी मत भारत में भारतीय उच्च सभ्यता के नाश के अर्थ दिलाया गया। इस मत को यहाँ फैलाने के लिए या यों कहिए कि इस देश में अपना प्रभुत्व करने के लिए मोहम्मद ने एक सुदृढ़ राजनीति बर्ती और वह यह थी इस देश के कुल आचार

संस्कार तथा शुभ प्रथाओं का ठीक उल्टा प्रचार किया गया, जिसके आगे चल कर यहां की प्रजा में आपस का मुठ भेड़ हो जाए और दारे इस्लाम प्रबल रहें। समय दिन पर दिन अनिष्ट तथा बुद्धि ह्रास का आ रहा है। उपरोक्त मत के अधीनस्थ व्यक्ति तभी उक्त मत का सच्चा अनुयायी हो सका है जब की उसने पहिले ही बुद्धि से सम्बन्ध छोड़ दिया हो। मैं इस विषय का विषयान्तर के भय से यहां विस्तार नहीं किया चाहता। कहने का तात्पर्य्य यही है कि जो भी मत हो यदि उसमें आत्मतृप्ति के भाव भरे हों और वह दार्शनिक दृष्टि से उत्कृष्ट हो उसी को हमें साम्प्रदाय वाद सम्मत धर्म्म कहना चाहिए। जत्थे बन्दी या गिरोह बन्दी से और साम्प्रदाय वाद से पृथ्वी और आकाशसा अन्तर है। असल में संप्रदाय वही सच्चा है जिसमें व्यक्तित्व प्रधान हो, गिरोह बन्दियों से पृथक् हो, और जिसके बरत से नेराजनीतिक व सामाजिक अथवा साधारण धर्म के बर्तने में बाधा न हो एवं वह परमात्मा की प्राप्ति के लिए शुद्ध दार्शनिक हो। सांप्रदाय वाद पारलौकिक वाद है दुनियाँ बभी झगड़ों से पृथक् रहते लोक हित का भी भाव उसमें है जब तक उपरोक्त व्याख्यानुकूल संप्रदायों का बर्ताव दुनिया में नहीं होगा प्रत्येक देश में धर्म के कारण युद्ध होता ही रहेगा। संसार में शान्ति के स्थान में अशांति ही विराजेगी और नए नए मत प्रजा में गड़बड़ी डालते ही रहेंगे। श्री शैव वैष्णव मोहमदी सिक्ख आदि आधुनिक संप्रदायों का उपरोक्त ढंग से सुधार करना चाहिए।

(प्रीती)

(ले० श्रीमती ब्रज कुमारी "प्रभाकरी")

जंग अनंग ते जोर कुसंग,
सुसंग परे अन फल दिखगाई ॥
जोग अरु भोग ते ज्ञान अनीति,
सों नीति किये नृप जस अधिकाई ॥
तिमि एते बड़ै विनयी विपरीत,
मिले गुन 'ब्रज' निजरूप विहाई ॥
तिमि प्रीति पलै परतीति किये,
सन्देहु भये निस्सार है जाई ॥

॥ मन ॥

(ले० श्रीमती ब्रज कुमारी "प्रभाकरी")

हौं बहु बारहिं चेत्यो रे मूढ़,
मति जाय मना इक ठौर रहेना ॥
बिलरूपी हि परै जित ही तित तू,
गुरु चरणन मृदु छोर गहेना ॥
बहु रीति हि नीति दिखाइ तबै,
दई सों नवसाय बहु पास रहैना ॥
जई सोय बई हई ! जाय छई,
'ब्रज' आगेहि चेत जनि हा ! हा ! कहैना ॥

भीष्म जी का उपदेश

महासमर के पश्चात् बाल ब्रह्मचारी भीष्म सैकड़ों शरों से बिन्धे हुये भगवत् ध्यान में लीन शरशय्या पर शयन कर रहे हैं। शोकग्रसित युधिष्ठिर आदि पाँचों पाण्डव उनके पास बैठे हुए हैं। भीष्म जी अमृत तुल्य उपदेशों से उनका शोक शमन कर रहे हैं। परन्तु युधिष्ठिर के हृदय में गोत्रवध का पाप अधिक सन्ताप दे रहा था। वे अकुला कर इस प्रकार कहने लगे:-

युधिष्ठिर-हे पितामह! आपके इन उपदेशों को सुन कर भी मुझ पापी को शान्ति नहीं मिलती है क्योंकि चित्त शुद्ध न होने से आपका दिया हुवा उपदेश मेरे हृदय में नहीं बैठता है। हे पितामह! इस विषय में आपने बहुत सी शान्ति देने वाली बातें कहीं परन्तु अपने आप जान कर पाप करने वाले को शान्ति कैसे मिल सकती है। विद्वान पुरुष अचिन्तित काम के हो जाने पर उसको काल आदि का किया हुवा मान कर शोक नहीं करते परन्तु बुद्धि पूर्वक किया हुवा पाप केवल शब्द मात्र के विचार से कैसे दूर हो सकता है। आपके शरीर को बाणों से और गहरे घावों से भरा हुवा देख कर अपने दुष्कर्मों की ओर ध्यान जाने पर मुझे शान्ति नहीं मिलती हे वीर! आपके शरीर से झरने के समान रुधिर निकलता हुवा देख कर मैं वर्षा काल के कमल के समान दुःखी हो रहा हूं। मेरे कारण आपकी रणभूमि में ऐसी अवस्था हुई हा इससे अधिक और क्या दुःख होगा। हे राजन! हमने काम और क्रोध के वशीभूत हो कर ऐसा निन्दित कर्म किया है न जाने इससे हमारी क्या गति होगी। दुर्योधन आपकी ऐसी अवस्था को देखने के लिये जीवित नहीं रहा यह मैं उसका पुण्य समझता हूं। मैं आपका नाश करने वाला हूं, मित्रों का वध करने वाला हूं पृथिवी पर आपको इस प्रकार दुःखित पड़ा हुवा देख कर शान्ति नहीं मिलती। यदि शत्रुओं के साथ युद्ध में मेरा भी नाश हो जाता। यदि मैं भी भाइयों सहित मर जाता तो श्रेष्ठ होता। हे राजन! मुझे ऐसा उपदेश करो जिससे मैं इस पाप से छूट सकूँ।

युधिष्ठिर को इस प्रकार दुःखित अवस्था में देख कर उनका कल्याण चाहने वाले भीष्म जी इस प्रकार कहने लगे:-

भीष्म-हे युधिष्ठिर! जो आत्मा काल, अदृष्ट और ईश्वर के आधीन है उसको तू कर्ता रूप क्यों मानता है। आत्मा का अकर्तृत्व सूक्ष्म है इस विषय में हम तुमको एक पुरातन दृष्टान्त सुनाते हैं। प्राचीन काल में गौतमी नाम की एक वृद्धा स्त्री थी। उसके एक मात्र पुत्र को एक दिन एक सर्प ने डस लिया। अर्जुनक नामक व्याध उस सर्प को एक पाश में बान्ध कर उस वृद्धा स्त्री के पास लाया और कहने लगा कि यह तेरे पुत्र को मारने वाला अधम सर्प है बता मैं इसको किस प्रकार कठिन दण्ड देकर इसका वध करूं।

गौतमी-हे अर्जुनक! तू मूर्ख है, तू इसको छोड़दे। इसमें इसका कुछ भी दोष नहीं है। मनुष्य अपने पूर्व कर्मों का फल अवश्य पाता है। जैसे नौका समुद्र से पार हो जाती है ऐसे ही धर्माचरण से मनुष्य इस संसार सागर से पार हो जाते हैं। और पाप करने वाला संसार रूपी समुद्र में ऐसे डूब जाता है जैसे तीर जल में डूब जाता है। इस सर्प को मारने से मेरा पुत्र जीवित नहीं हो जायगा। इसके जीवित रहने से भी अब उसकी कोई हानि नहीं होगी, इसलिये तू इस सर्प को मार कर पाप का भागी मत बन।

व्याध–हे देवी ! तुम गुण और अवगुण को नहीं जानती हो। यह ठीक है कि महात्मा पुरुषों के विचार ठीक ऐसे ही होते हैं। इस अधम सर्प के लिये यह उपदेश ठीक नहीं। मैं इस सर्प को अवश्य मारूंगा। तुम इस सर्प के नाश से होने वाले शोक को त्याग दो।

गौतमी–मुझको पुत्र मरण के सदृश अवसर पड़ने पर भी दुःख नहीं होता है इस मेरे पुत्र का मरण इसी प्रकार पहले ही रचा हुवा था। मनुष्य को कोप नहीं करना चाहिये कोप करने से पीड़ा होती है। अतः तू कोप को छोड़ कर क्षमा को धारण कर और इस सर्प को छोड़ दे।

व्याध–हे देवी ! शत्रु को मारने में ही लाभ है क्योंकि इससे परलोक में अविनाशी श्रेय मिलता है। लाभ पाने वाला पुरुष संसार में श्रेष्ठ माना जाता है। काल से जो लाभ मिलता है वह ही श्रेष्ठ लाभ है। यह लाभ इस सर्प को हत्या न करने से नहीं मिलेगा।

गौतमी–शत्रु को पकड़ कर मार डालने में क्या लाभ है। मैं अपने सांप रूप शत्रु पर क्षमा क्यों न करूं। उसको छोड़ कर पुण्य संचय क्यों न करूं।

व्याध–हे देवी ! देवराज इन्द्र अपने शत्रु वृत्रासुर को मार कर सुखी हुवा था। त्रिशूलधारी शिवने दक्ष को मार कर यश का भाग पाया था। अतः तू भी इस सर्प को मार कर सुख को प्राप्त हो। जब वह इस प्रकार वार्तालाप कर ही रहे थे कि पाश की पीड़ा से अत्यन्त कष्ट पाकर वह सर्प इस प्रकार कहने लगा।

सर्प–हे अर्जुनक ! मैं पराधीन हूं, मुझे मृत्यु ने इसी प्रकार की प्रेरणा की थी। तब हे अर्जुनक ! मेरा इसमें क्या दोष है। मैंने इसको किसी कोप के कारण या अपनी इच्छा से नहीं डसा किन्तु मृत्यु की आज्ञा से ऐसा किया है। इसलिये इसमें मेरा क्या दोष है। यदि कुछ दोष है तो वह मृत्यु का है।

व्याध–हे सर्प ! तैने दूसरे के वशीभूत होकर यह पाप कर्म किया है अतः तू इस अशुभ कर्म का कारण रूप है। इसलिये तू भी अपराधी है। जैसे मिट्टी के पात्र को बनाने में दण्ड चक्र आदि भी कारण हैं ऐसे ही तू भी इस अशुभ कर्म का कारण है।

सर्प–मृत्तिका के पात्र को बनाने में जैसे दण्ड चक्र आदि कुम्हार के आधीन हैं ऐसे ही मैं भी पराधीन हूं अतः मेरा अपराध नहीं है।

व्याध–तू कर्ता अथवा कारण न हो तब भी तू इसके विनाश का तो कारण है ही। अतः तू मारने के योग्य है। हे सर्प ! तेरे मतानुसार पाप करने पर भी कर्ता को पाप नहीं लगता है तो क्या तू अपने को प्रायश्चित्ती नहीं समझता है।

सर्प–कर्ता हो अथवा न हो तो भी कारण के विना क्रिया नहीं होती। वृक्षों की टहनियों के परस्पर रगड़ने पर अग्नि उत्पन्न होने से वृक्षों का नाश हो जाता है इस प्रकार विना कारण के क्रिया नहीं होती। अतः इस विषय में कारण पन का विशेष विचार करना चाहिये। जैसे टहनियां वृक्षों के नाश में कर्ता नहीं है इसी प्रकार मैं भी कर्ता नहीं हूं। शाखाओं का जैसे वायु कर्ता है तैसे ही मेरा भी कर्ता और है वास्तव में वायु के समान वह भी दोषी नहीं है।

जब वह इस प्रकार बातें कर रहे थे तो मृत्यु वहां आ पहुंचा और इस प्रकार कहने लगा–

"हे सर्प ! काल स्वरूप ईश्वर की प्रेरणा करने पर मैंने तुझे प्रेरित किया था। इस बालक को मारने में तू भी कारण नहीं है और मैं भी कारण नहीं हूं। जैसे हाथी अपराधी के ऊपर धंस कर उसको मार डालता है इस काम में महावत

हाथी को प्रेरित करता है, महावत् को राजा प्रेरित करता है और राजा को अपराधी का अपराध प्रेरित करता है। इस प्रकार जैसे अपराधी अपने ही अपराध से मरण पाता है और इसमें राजा, महावत और हाथी कोई दोष का भागी नहीं होता है तैसे ही मैं, काल या तू इस बालक के वध में दोषी नहीं हैं। तात्पर्य यह है कि भीष्मादि को मारने में तू भी दोष का भागी नहीं है। जैसे वायु मेघों को जहां चाहे वहां पटक देता है तैसे ही बादलों के अनुसार मैं भी काल की आज्ञा में रहता हूं। सात्विक, राजस और तामस भाव यह सब काल के आत्मस्वरूप हैं और सब प्राणी काल की आज्ञानुसार ही उनमें प्रवृत्त होते हैं। स्वर्ग में और पृथिवी में जितने स्थावर जंगम पदार्थ हैं वे सब काल स्वरूप हैं। इस जगत् में जितनी प्रवृत्ति निवृत्ति और विकृतियें हैं वे सब कालात्मक कहलाती हैं। आदित्य, चन्द्रमा, विष्णु, जल, वायु, इन्द्र, अग्नि, आकाश, पृथिवी, नदी, समुद्र भाव और अभाव इन सब को काल ही बारम्बार रचता है और संहार करता है। ऐसा जानने पर भी हे सर्प! मुझे अपराधी क्यों समझता है।"

सर्प–हे मृत्यो! मैं तुझे अपराधी या निरपराधी नहीं मानता। मैं तो यह ही मानता हूं कि तू ने मुझे प्रेरणा की थी।

तब सर्प ने अर्जुनक से कहा कि तू ने मृत्यु की बात सुनली अतः तू मुझ निरपराध को छोड दे। व्याध ने कहा कि मैंने तुम्हारी दोनों की बातें सुनली परन्तु हे सर्प! तू इन बातों से निर्दोष प्रमाणित नहीं होता। इस बालक के मारने में मैं तुम दोनों को अपराधी समझता हूं। मृत्यु ने कहा हम दोनों पराधीन हैं, काल के वश में हैं और उसकी आज्ञा के अनुसार कार्य करते हैं। जब तू यथार्थ रीति से जांचेगा तो हम दोषी प्रतीत नहीं होंगे। जो कुछ होता है वह काल की प्रेरणा से होता है। अतः तुझे हमको किसी प्रकार भी दोषी नहीं समझना चाहिये। जब इस प्रकार धर्म सम्बन्धी सन्देह होने लगा तो काल वहां आ गया और उसने सर्प, मृत्यु और अर्जुनक से इस प्रकार कहा "मैं, मृत्यु अथवा यह सर्प इनमें से कोई भी हत्या का अपराधी नहीं है क्योंकि प्राणिमात्र के मरण में हम प्रयोजक नहीं हैं। इस बालक ने जो कर्म किया था उसने ही हमको प्रेरित किया था। यह बालक अपने ही कर्म से मारा है, इसका और कोई कारण नहीं है हम सब कर्म के आधीन हैं। कर्म ही पुत्र के समान तारने वाला है और कर्म से पुण्य और पाप जाने जाते हैं। कर्म ही जैसे दूसरे कर्म को प्रेरित करते हैं ऐसे ही हम भी परस्पर के प्रेरक हैं। कुम्हार जैसे मिट्टी के डले से इच्छानुसार पदार्थ बनाता है इसी प्रकार मनुष्य भी कर्मानुसार फल पाता है। जैसे परछाईं और धूप सदा परस्पर मिले रहते हैं तैसे ही कर्म और कर्ता भी अपने कर्मों से बन्धे हुवे हैं। इस प्रकार इस बालक की मृत्यु में मैं, मृत्यु या यह सर्प कारण नहीं है यह बालक ही कारण है। काल की यह बात सुन कर गौतमी उस व्याधे से कहने लगी कि हे अर्जुनक! अब तू समझ गया कि इस बालक के मरण में काल, मृत्यु या सर्प कारण नहीं है। यह बालक अपने ही कर्मों से मरण को प्राप्त हुवा है। व्याधे ने सर्प को छोड़ दिया, पश्चात् मृत्यु और काल भी अन्तर्ध्यान हो गये।

इतनी कथा सुना कर भीष्म जी ने युधिष्ठिर से कहा हे राजन्! सब मनुष्य अपने अपने कर्मों के अनुसार स्वर्ग नरक मृत्यु आदि फल को पाते हैं। तू ने कोई कर्म नहीं किया है तथा दुर्योधन ने भी कोई कर्म नहीं किया है। यह सब काल की प्रेरणा

से हुवा है। काल ने ही इन सब का संहार कराया है। इसलिये हे राजन! तू शंका न कर तेरा इसमें कुछ भी अपराध नहीं है। भीष्म जी के इस प्रकार के उपदेश से युधिष्ठिर का शोक सन्ताप सब निवृत्त हो गया।

वसन्त आगमन

(ले० श्री प्रभुदेव ब्रह्मचारी आश्रम)

आयो वसन्त बसन अनुरागी।
सज धज साज अनन्त मनोहर प्रेम प्रसून परागी॥
ओढे नव पल्लव द्रुम वेलिन जीर्ण बसन सब त्यागी।
खेतन ओढा दुकूल बसन्ती सरसों सरकी पागी॥
धार बसन्ती बसन मालिनी माला के हित लागी।
पीताम्बर धारें प्रिया प्रीतम प्रभु निरखें बड़भागी॥

सुख और शान्ति

[लेखक श्री प्रेम पथ पथिक]

प्रायः देखा जाता है कि प्रत्येक व्यक्ति सुख तथा शान्ति चाहता है। उसकी कभी भी इच्छा नहीं रहती कि उसे दुःखों का सामना करना पड़े और अशान्ति रहे। पर ठीक इसके विपरीत ही देखने और सुनने में आता है। कारण इसका यह है कि वे चाहते तो अवश्य हैं पर उसकी प्राप्ति के लिये उद्योग तथा उपाय नहीं करते। वे सुख के लिये एक वस्तु से दूसरी पर और दूसरी से तीसरी पर दौड़ते हैं पर परम सुख और शान्ति की प्राप्ति नहीं होती। कारण यह है कि ये सांसारिक वस्तुओं से लभ्य नहीं। शरीर के किसी अंग में कांटे चुभ जाने से उसके निकालने के लिये वैसी ही नोकीली वस्तु की आवश्यकता पड़ती है। इसी प्रकार सुख और शान्ति अपने भीतर न खोज बाहर ढूँढने से नहीं मिलती।

जब मनुष्य शिशु अवस्था में रहता है तब वह समझता है कि मां की गोद ही सुख और शान्ति का एक मात्र स्थान है पर थोड़ा बड़ जाने पर वह खिलौनों में ही सुख और शांति का अनुभव करने लगता है। थोड़ा और बड़ा हो जाने पर पढ़ने लिखने में और फिर धनोपार्जन में सुख मानता है। किशोरावस्था में स्त्री सुख ही उसके लिये सुख का स्थान विदित होता है। पर इसके बाद की ढलती अवस्था जरा अवस्था में यह सुख और शान्ति स्वप्नवत् भासने लगता है और तब समझ में आने लगती है कि संसार के क्षणभंगुर और नाशवान पदार्थों में सुख और शान्ति खोजना कितनी बड़ी मूर्खता है। परन्तु उस समय केवल पछताना छोड़ कर और कुछ करते नहीं बनता।

अब प्रश्न उठता है कि सुख और शान्ति है कहां? कोई कहता है कि राजाओं के महलों में है। कोई पहाड़ की गुफाओं में और कोई जंगलों में बताता है। लेकिन ध्यान पूर्वक विचारने से पता चलता है कि सुख और शान्ति का निवास अपने अन्दर है और अपने ही भीतर ढूँढने से मिल सकता है। जब तक हम उसे बाहर ढूढते हैं तब तक उसे प्राप्त करना शशशृंगवत् है। जब तक मन अपने वश में नहीं किया जाता और मन को वश कर उस परम पिता की शरणागति प्राप्त नहीं होती तब तक सुख और शान्ति हम से हजारों कोश दूर है। यदि हम चाहते हैं कि हम उन अलौकिक गुणों का रसास्वादन करें तो इसके लिये अविरल तथा भगीरथ

परिश्रम की आवश्यकता है। ये हमारे अन्दर मौजूद है आवश्यकता है गोता लगा कर ढूँढ निकालने की। दूध में नवनीत है लेकिन उसको प्रकट करने के लिये मथनी से मथना पड़ेगा। बिना मथे मक्खन नहीं निकल सकता है। भाव को कवि ने कैसे सुन्दर शब्दों में व्यक्त किया है:-

बैठे हृदय में है हरि पर भक्ति बिन मिलते नहीं।
दूध से माखन जो चाहो तो बिलोना चाहिये ॥

ठीक इसी प्रकार यदि हम प्रेम की डोरी और भक्ति की मथनी से मथें तो सुख और शान्ति रूपी मक्खन निकल आये। गोद में लड़का हो और शहर में ढिंढोरा पिटाया जाये तो लड़का नहीं मिल सकता। लड़का तो तभी मिलेगा जब उसे अपने पास ही ढूँढा जाये। प्रायः देखने में आता है कि बहुत निकट की वस्तु दिखाई नहीं पड़ती और उसकी प्राप्ति के लिये दूर खोजने में व्यर्थ समय नष्ट होता है। कस्तूरी मृग की नाभि में रहती है लेकिन वह उसकी सुगन्ध कहीं पास में अनुभव नहीं करता है और इधर दौड़ धूप में मृग तृष्णा के फेर में पड़ अपना प्राण गंवा देता है। पर कस्तूरी जिससे सुगन्ध आती है उसे वह अपने ही पास नहीं समझता। ठीक इसी प्रकार हम सुख और शान्ति को अपने ही भीतर नहीं ढूँढ इधर उधर खोजते फिरते हैं और अन्त में प्राप्त नहीं कर अपने भाग और परमात्मा पर दोषारोपण करते हैं।

भगवान् का साक्षात्कार या संध्योपासना

[ल० श्री बद्रीदास जी पुरोहित]

यदि मनुष्य यथा शास्त्र त्रिकाल संध्योपासना करना नियमित रूप से पुनः प्रारम्भ करदे तो भगवान् का प्रतिदिन एकबार ही नहीं वरन् तीन तीन बार साक्षात्कार हो सकता है। इसमें किसी प्रकार का सन्देह नहीं है। इसलिये हमें एकाग्र चित्तसे इस विषयका अभ्यास करना चाहिये क्योंकि संसार में ऐसा कोई जीव या मनुष्य नहीं जो भगवान् का साक्षात्कार करवाने वाली क्रिया अथवा उपासना से मुँह मोड़ दें! परन्तु आज समय के परिवर्तन से या हम लोगों के कुसंस्कारों से हमारा नित्य कर्म जो दिनमें तीन २ बार भगवान् का साक्षात्कार करवाता है छूट गया; और यहाँ तक विस्मरण हो गया है कि हमारे कई द्विज-ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यों ने उसके स्वरूप उद्देश्य और क्रम को ही नष्ट कर दिया। तथा नष्ट कर दिया भगवत्साक्षात्कार करने की अपनी शक्ति और भक्ति को। इसलिये 'भक्ति' के पाठकों के समक्ष पुनः अपनी उस शक्ति को प्राप्त करने की जो विधि है उसको रखा जाता है और आशा की जाती है कि हमारे भक्ति तत्ववित् द्विज बन्धु अवश्य ही विधिवत् संध्योपासना नित्य करने से श्रीभगवान् का साक्षात्कार करेंगे।

संध्या का स्वरूप और अर्थ।

किसी वस्तु को साक्षात् करने के लिये सर्व प्रथम उसके स्वरूप का ज्ञान करना करवाना आवश्यक है। इस वास्ते हमें अनुसन्धान करना चाहिये कि भगवान् या उन्हें प्राप्त करवाने वाली संध्या का क्या स्वरूप है और अर्थ क्या है। ऋषियोंने कहा है कि-"संध्यायन्तीति संध्या" अथवा "सम्यक्

ध्यायते पर-ब्रह्म यस्यां सा संध्या।" अर्थात् जिस में परमात्मा का सम्यक् रूप से शास्त्रविधि अनुकूल चिन्तवन किया जाय उस भगवद् स्मरण, चिन्तवन या ध्यान करने की जो सूक्ष्म अथवा स्थूल क्रिया है उसीका नाम संध्या है। अथवा जिस कर्म में पर-ब्रह्म परमात्मा का अच्छे प्रकार से शास्त्र विधि अनुसार ध्यान हो या ध्यान किया जाय उसी कर्म का नाम संध्या है। जब संध्या का अर्थभगवान् का चिन्तवन और ध्यान है तब इसका स्वरूप भी भगवान के परमधाम सा होना चाहिये तभी संध्या भगवान् का साक्षात्कार करवा सकेगी। इसके उत्तर में कहा जाता है कि तत्व को देखने वाले तत्व दर्शियों ने संध्या का यही स्वरूप बतलाया है। यथा:-

"अहोरात्रस्य या सन्धि सूर्य नक्षत्रादि वर्जिता।
सातु सन्ध्या समाख्याता मुनिभिस्तत्वदर्शिभिः॥" नागदेव

अर्थात् दिन रात्रि की वह सन्धि जो सूर्य चन्द्र आदि (अग्नि) से वर्जित प्रकाश्य नहीं है, उसीको तत्वदर्शियों ने विचार पूर्वक "संध्या" कहा है। अतः विचारना चाहिये कि तत्वदर्शियों के विचार पूर्वक कथन का अभिप्राय स्थूल दिन रात का जो संधिकाल है वह संध्या का स्वरूप नहीं हो सकता और न योगियों की सन्धि जो ईडा, पिङ्गला (सूर्य चन्द्र) की सुषुम्ना ही संध्या का स्वरूप हो सकती है कारण उक्त-वाक्य में "आदि" शब्द से इनका खण्डन हो जाता है। अतः निश्चय करना चाहिये जिस संध्या में भगवान् का साक्षात्कार किया जाता है और जो स्थूल सूक्ष्म काल की सन्धि से रहित साक्षात् भगवान् का परम धाम है वही "संध्या का स्वरूप है।" श्रीभगवान् का परम-धाम कैसा है उसके सम्बन्ध में स्वयं भगवान् भगवद्गीता में कहते हैं:-

"न तद्भासयते सूर्यो न शशांको न पावकः।
यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम॥

"जहाँ जाकर फिर लौटना नहीं पड़ता वही मेरा परमधाम है, जिसको न सूर्य, न चन्द्र, और न अग्नि ही प्रकाशित कर सकते हैं। अर्थात् इन सब की जहां पूर्णता है वही मेरा परमधाम है। "अतएव यही तत्वदर्शियों के विचार पूर्वक कहे हुवा संध्या का स्वरूप है। कारण दोनों श्लोकों का भावार्थ एक सा ही है इसमें सन्देह नहीं। हमें निस्पक्षपात से विचारना चाहिये कि भगवान् के परम धाम की प्राप्ति करना यही भगवद् साक्षात्कार है। इसीलिये हमने इस लेख का शीर्षक "भगवान् का साक्षात्कार या संध्योपासना" रक्खा है। इस पर विद्वान् भक्त और ज्ञानी अवश्य मनन करें। क्योंकि शास्त्र में स्पष्ट लिखा है कि-"संध्या उपासिता येन ब्रह्म तेन उपासितम्।" अर्थात् जिसने संध्योपासना की है उसने पर ब्रह्म की ही उपासना की।

उपरोक्त कथन से यह बात सिद्ध होगयी कि संध्या परमात्मा का परमधाम है। उसकी विधि-वत् (सम्यक् प्रकार से उपासना समीप में जा बैठना उनका साक्षात्कार करना उसीका नाम "संध्योपासना" है। अब यह विचारना चाहिये कि ऐसी "संध्या" का उद्देश्य क्या है? विष्णु पुराण में और याज्ञवल्क्य स्मृति में संध्यो-द्देश के विषमें लिखा है:-

"नत्वा तु पुण्डरीकाक्षं कृपानाथ प्रशान्तये।
ब्रह्मवर्चस कामार्थं प्रातः संध्यामुपासमहे॥
यावन्तोऽस्यां पृथिव्यां हि विकर्मस्था द्विजातयः।
तेषां वै पावनार्थाय संध्या सृष्टा स्वयंभुवा॥"

अर्थात् कमलनयन भगवान् श्रीकृष्ण को प्रणाम करके नित्यकृत पापों की निवृत्ति और ब्रह्म तेज की प्राप्ति के लिये हम प्रातः संध्योपासन करते

है। याज्ञवल्क्य ने कहा कि इस भूमण्डल में निषिद्ध कर्मों के पापों में फंसे हुए जो द्विज लोग-ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य हैं उन्हें पवित्र करने के लिये ही स्वयम्-परमात्मा ने संध्या को रचा है या बनाया है। अतएव सिद्ध होगया कि-"पापों की निवृत्ति और ब्रह्म तेज की प्राप्ति" यही संध्या का उद्देश्य है। किसी वस्तु का अर्थ स्वरूप और उद्देश के जान लेने पर प्रत्येक मनुष्य की यही इच्छा रहती है कि उसे कितना शीघ्र प्राप्त करें। ठीक इसी प्रकार "भक्ति" के पाठकों को भगवान् के परम धाम "संध्या' के अर्थ, स्वरूप और उद्देश्य समझ लेने पर प्रभु का साक्षात्कार किस प्रकार होगा या करना पड़ेगा इस बात की उत्कण्ठा हो जाती है। उत्कंठित पुरुषों को यदि उसके अनुकूल कोई कार्य नहीं सौंपा जाय अथवा उसे उसकी उत्कण्ठित अवस्था के समान उत्साह और आनन्द से किसी प्रणाली या रीति का जो कर्म को अपने स्वरूप और उद्देश्य के अनुसार सफल करती है अभ्यास नहीं करवाया जाय तो उत्साही मनुष्य की उत्कण्ठा का लोप हो जाता है इस वास्ते बतलादेते हैं कि द्विजमात्र को अपने पापों की निवृत्ति कर भगवान् का साक्षात् करने के लिये विधिवत् संध्योपासना करना परमावश्यक है। शास्त्र विधि को छोड़ कर संध्या करने से न तो संध्या करने की सिद्धि-भगवान् का साक्षात्कार, न सुख, इहलोक और पारलौकिक ऐश्वर्य या आत्मानुभव और न परमगति भगवद्धाम की ही प्राप्ति होगी। अतः उपरोक्त शास्त्रों में संध्योपासना का जो अर्थ स्वरूप और उद्देश्य बतलाये गये हैं वे जिस प्रकार कार्य में परिणत हो कर हमें श्रीभगवान् का साक्षात्कार हो जाय उसी प्रणाली या विधि को बतलायी जाती है जो संध्यावन्दन की शास्त्र और अनुभव संमत रीति है। अतएव मनन करना चाहिये कि संध्योपासनान्तर्गत दशविध क्रियाओं में प्रथम का नाम "प्रणव ध्यान" है। दूसरी का "सङ्कल्प' तीसरी का "आत्मरक्षा" इस "आत्मरक्षा की ७ सात उपक्रियाएं हैं जिन का यथाक्रम नामः-शिखा बन्धन, भस्म धारण, इन्द्रिय शुद्धि, अन्तःकरण शुद्ध, दिक्-शुद्धि, न्यास और आसन प्रतिष्ठा है। चौथी का नाम "प्राणायाम" पांचवीं का "आचमन" छठीं का "मार्जन" सातवीं का "अघमर्षण" आठवीं का "अर्घ्य" नौवीं का "आवाहन" और दसवीं का "विसर्जन" है। यही संध्योपासना का शास्त्रीय क्रम है। परन्तु शोक के साथ कहना पड़ता है कि आज उपरोक्त क्रम को नष्ट करके द्विज लोग "भगवद् साक्षात्कार से" विमुख हो गये हैं ! तथा सुख, सम्पत्ति और स्वतन्त्रता से। इसलिये हमारा परम कर्तव्य है कि संध्योपासना को उपरोक्त क्रम से "अहरहर्संध्या मुपासीत" इस वेदाज्ञा को शिरोधार्य कर प्रतिदिन स्वयं करते रहें और अपने इष्ट मित्रोंसे करवाते रहें।

व्यापकता

[ले० श्री शान्तिस्वरूप जी वर्मा]

ऊख में मिठास जैसे नीबू में खटास जैसे,
पुष्प में सुवास जैसे वीणा में झन्कार है।
चन्द्रमा में शीत जैसे सूरज में ताप जैसे,
नीरद में नीर जैसे वृक्ष में बयार है॥
कूप में है विष जैसे दुग्ध में है घृत जैसे,
बीज में है वृक्ष जैसे पाथर में भार है॥
तैसे ही छिपे है प्रभु देखो नर तन मांहि,
जिनका स्वरूप सत्य शुद्ध ओंकार है।

ज्ञान-भूमि

[ले० श्री महात्मा राम]

ज्ञानवान् पुरुष को शास्त्रों में जीवन्मुक्त नाम से कहा है। जीवन्मुक्त पुरुष अभ्यास के अवस्था भेद से चार प्रकार की स्थिति वाले होते हैं और उनको भिन्न भिन्न नाम से पुकारा जाता है जैसे ब्रह्मवित् १ ब्रह्मविद्वर २ ब्रह्मविद्वरीयान् ३ ब्रह्मविद्वरिष्ठ ४ इन चारों अवस्था वाले विद्वानों को श्रुति (वेद) में भी कथन किया है।

श्रुति–'आत्मक्रीड आत्मरतिः क्रियावानेष ब्रह्मविदांवरिष्ठ'।

आत्मक्रीड-आत्मा में है अपरोक्ष अनुभव क्रीडा जिसकी उसका नाम आत्मक्रीड है इसी आत्माक्रीड विद्वान् को शास्त्र में ब्रह्मवित् नाम से कहा है।

आत्मरति–विजातीय वृत्तियों के तिरस्कार पूर्वक एक आत्माकार वृत्ति के प्रवाह पूर्वक जो आत्मा के आनन्द का निरन्तर अपरोक्ष अनुभव है उसे आत्मरति कहते हैं इसी आत्मरति विद्वान् को शास्त्र में ब्रह्मविद्वर नाम से कहते हैं।

क्रियावान्–ब्रह्म के ध्यान का नाम क्रिया है। सर्वकाल में जिसका ध्यान आत्मा में ही लगा रहता है उसे क्रियावान् कहते हैं। इसी क्रियावान् विद्वान् को शास्त्रकार ब्रह्मविद्वरीयान् नाम से कहते हैं। यह विद्वान् अपने आप से उत्थान नहीं होता किन्तु दूसरों द्वारा उत्थान कराया हुआ उत्थान होता है और ब्रह्मविद्वरिष्ठ विद्वान् तो न आप से और न दूसरों से उत्थान को प्राप्त होता है। यह अवस्था अभ्यास करने वाले विद्वान् को सातवीं भूमिका में होती है।

ज्ञान की सात भूमिकायें गुरु वसिष्ठ जी ने श्री रामचन्द्र जी के प्रति कही हैं।

ज्ञान भूमिः शुभेच्छारूपा प्रथमा समुदाहृता।
विचारणा द्वितीयास्यात्तृतीया तनुमानसा॥
सत्त्वापत्तिश्चतुर्थीस्यात्ततोऽसंसक्ति नामिका।
पदार्थाभाविनी षष्ठी सप्तमी तुर्यगा स्मृता॥'

शु० इच्छा १ विचारणा २ तनुमानसा ३ सत्त्वापत्ति ४ असंसक्ति ५ पदार्थाभाविनी ६ तुरीया ७ यह सात ज्ञान की भूमिका हैं। इन में प्रथम भूमिका शुभ इच्छा है यह शुभ इच्छा पुण्य कर्मों का फल रूप है निष्काम पुण्य कर्म करने वाले पुरुष का मन शुद्ध होकर सत्संगति से परमेश्वर के जानने की इच्छा का उदय होकर सद्गुरु की शरण को प्राप्त हो सब कामनाओं से रहित होकर केवल उनके कथन किये हुये वाक्यों का श्रवण करना और उन वाक्यों के अर्थ को भले प्रकार समझना यह शुभेच्छा नामा प्रथम भूमिका कही जाती है। इस प्रथम भूमिका में परमात्मा के स्वरूप का सद्गुरु द्वारा श्रवण किया जाता है

दूसरी भूमिका का नाम विचारणा है। इस भूमिका में जो अर्थ प्रथम भूमिका में सुना था उसी अर्थ को अनेक युक्तियों द्वारा बारंबार मनन करना अर्थात् श्रवण किये हुए अर्थ को अपने मन में दृढ़ निश्चय कर लेना विचारणा नामक दूसरी भूमिका है।

तीसरी भूमिका तनुमानसा है सो निदिध्यासन रूप है जिस अर्थ को गुरु द्वारा श्रवण करके मनन किया था उसी अर्थ में बुद्धि की वृत्तियों का प्रवाह करना अर्थात् एक ही अर्थ के आकार वाली वृत्तियों की उत्पत्ति होनी निदिध्यासन है।

'विजातीय प्रत्यय तिरस्कारेण सजातीय-
प्रत्ययप्रवाहीकरणं निदिध्यासनम्'

विजातीय (अनात्माकार) वृत्तियों का तिरस्कार (निरोध) करके सजातीय (आत्मा का) वृत्तियों का प्रवाह करना निदिध्यासन कहा जाता है। निदिध्यासन के अभ्यास से मन की अति सूक्ष्म अवस्था को तनुमानसा नाम करके तीसरी भूमिका कहते हैं। श्रवण, मनन, और निदिध्यासन यह तीनों भूमिका साधन रूप हैं। इन भूमिकाओं में संशय विपर्यय और असंभावना निवृत्त हो जाते हैं संशय ये हैं कि जीव ब्रह्म का भेद है वा अभेद है और विपर्यय यह है कि देह से आत्मा भिन्न नहीं है देह ही आत्मा है और असंभावना यह है कि जीव कर्म ब्रह्म रूप नहीं हो सक्ता इत्यादिक सर्व विकल्प गुरु कृपा से श्रवण मनन निदिध्यासन द्वारा निवृत्त होकर चतुर्थी सत्वापत्ति भूमिका को प्राप्त होता है चतुर्थी भूमिका में इस पुरुष को ब्रह्म का साक्षात्कार उत्पन्न होता है इसी भूमिका वाले पुरुष को ब्रह्मवित् नाम से कहते हैं तथा जीवन्मुक्त कहते हैं। इस ब्रह्मवेत्ता को जगत् का भान स्वप्न के समान होता है इसके अज्ञान का नाश होकर सूर्य के समान विकाश हो जाता है।

यह विद्वान यदि चाहे तो संसार में कोई व्यवहार करै और न चाहे तो न करे उस पर किसी का विधि निषेध नहीं है ऐसा ब्रह्मवित् पुरुष किसी निमित्त को लेकर व्यवहार में प्रवृत्त हुआ कुछ भी करने न करने योग्य कर्म को कर डाले तो उसे कोई प्रतिबाध नहीं हो सक्ता। उसका कर्म अपने लिये नहीं है जो कुछ करता है वह दूसरों के हितके लिये करता है। ऐसे पुरुषों का कर्म अधिकतर जीवों के लिये हितकर ही होता है किसी न किसी रीति से अत्याचारियों के लिये भी हित करने वाला होता है। यद्यपि वर्तमान में कर्म का अन्य ही रूप होता है तथापि परिणाम अच्छा निकलता है। ऐसे दिव्य कर्म तत्वज्ञ, योगी, महापुरुष और अवतारों के ही सुने जाते हैं। अवतारों में जैसे श्रीराम और श्रीकृष्ण भगवान् के दिव्य कर्मों की अनेक कथायें भक्तजनों ने श्रवण करी होंगी और तत्वज्ञ योगियों में श्रीहरि भक्त ध्रुव प्रह्लाद से आदि रविदास, कबीर जी और जनक, शुकदेव, व्यास, वसिष्ठ, विश्वामित्र आदि अनेक योगी ऋषि मुनियों के इतिहास सुने जाते हैं इन्हों के कर्म धर्म की रक्षा और अधर्म की निवृत्ति के लिये होते हैं जैसे श्रीमगवद्गीता में श्रीकृष्ण भगवान् ने कहा है:-

'यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्म संस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे॥'
जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्वतः।
त्यक्त्वादेहं पुनर्जन्म नैतिमामेति सोऽर्जुन॥'

जब अधर्म बढ़ जाता है तब धर्मात्मा सत्पुरुषों को अधर्म अत्याचारी दुष्टों से अति दुःख होता है। दुर्जनों के घोर कर्मों से सज्जन पुरुष पीड़ित होकर अति कष्ट में आये हुए भगवान् से प्रार्थना करते हैं जैसे रावणादिक राक्षसों से तपस्वियों को अति दुःख होता था कितने तपस्वि ब्रह्मचारियों की अस्थियों के ढेर के ढेर ऋषियों ने श्रीरामचन्द्र जी को दिखलाये थे यज्ञों में विघ्न करना इत्यादि अनेक क्रूर कर्म करना और कंस तथा दुर्योधनादिकों का अत्याचार इन अधर्मों के बढ़ने से और भक्तजनों के आर्तनाद से भगवान् समय के अनुकूल शक्तियुक्त हुआ विग्रह (शरीर) को धारण करते हैं। और इन भक्तों की प्रार्थना से दुष्टों को दण्ड देकर उनको दमन करके अधर्म को हटा कर धर्म की स्थापना कर अपने भक्तजनों की रक्षा करते हैं। और भक्तजनों की रक्षा के लिये

अनेक विचित्र घटनाओं वाले कर्म करते हैं जो साधारण मनुष्यों की समझ से बाहर हैं और अनभिज्ञ जीव व्यामोह को प्राप्त हो कर चकित से रह जाते हैं ऐसे अनेक स्थलों पर भगवान् के चरित्र इतिहासों पुराणों द्वारा सुने जाते हैं।

इस प्रकार भगवान् और भक्तजनों के दिव्य जन्म और कर्मों के रहस्य को जो यथार्थ रूप से भले प्रकार जानता है हे अर्जुन ! वह तत्वज्ञ पुरुष व्यामोह को प्राप्त न हो कर शरीरान्त समय में मुझ परमेश्वर को ही प्राप्त होता है, और वह मुझको प्राप्त होकर फिर इस दुःखों के भण्डार रूप देह को प्राप्त नहीं होता अर्थात् मुक्त हो जाता है। चौथी भूमिका को प्राप्त हुआ आत्मवित् पुरुष ही शिष्यों के कल्याणार्थ और ससार की व्यवस्था ठीक करने के लिये आचार्य कोटि में स्थित होकर शिष्यों के प्रति उपदेशादि व्यवहार को बाधितानुवृत्ति से करता है। और जो विद्वान् जीवन्मुक्ति के अभ्यास की प्रकृष्टता से चौथी भूमिका से अतिक्रमण करके ऊपर पहुंच गया है वह इन व्यवहारों से उपराम होकर सदा निवृत रहता है वह संसार की तरफ ध्यान ही नहीं करता केवल आत्मानन्द के समुद्र में ही डूबा रहता है उसके लिये संसार है ही नहीं। बाधितानुवृत्ति उसे कहते हैं, जैसे सीपी में चांदी की प्रतीति,तथा मरु भूमि में जल की प्रतीति भ्रम मात्र है सीपी और मरु भूमि के प्रत्यक्ष देखने पर निश्चय हो जाता है की यह चांदी और जल नहीं है, तो भी सीपी में चांदी और मरु भूमि में जल प्रतीत होता ही है। इसी प्रकार आत्मा के दर्शन हो जाने पर संसार के कारण रूप अज्ञान का सर्वथा नाश हो जाता है परन्तु व्यवहार मात्र के लिये बाधित हुए जगत् का सद्भाव बना रहता है अथवा जगत् सोपाधिक भ्रम रूप है। तात्पर्य यह है कि भ्रम सोपाधिक और निरुपाधिक भेद से दो प्रकार का है। निरुपाधिक भ्रम तो अधिष्ठान के ज्ञान से निवृत हो जाता है और सोपाधिक भ्रम अधिष्ठान के ज्ञान होने पर भी बना रहता है। जैसे रज्जु में सर्प का निरुपाधिक भ्रम है वह रज्जु के अज्ञान काल में ही है और रज्जु के यथार्थ रूप से ज्ञान होने पर सर्प का भ्रम नहीं रहता। और स्फटिकमणी में ऊपर लगे हुए फूल की लाली का भ्रम होता है कि यह स्फटिक लाल रंग का है। यह सोपाधिक भ्रम है यद्यपि फूल को स्फटिक मणि से प्रथक् जान भी लिया है परन्तु जब तक फूल अथवा स्फटिकमणि रूप उपाधि को न हटाया जायगा तब तक अलग २ जाना हुवा भी भ्रम बना ही रहेगा यहां प्रत्यक्ष किये हुए स्फटिक में भी बाध होने पर जैसे लाली का भान होता है अर्थात् बाधित हुए पर भी जैसे (लोहितो स्फटिक्) यह स्फटिक लाल रंग का है इस प्रकार की बाधितानुवृत्ति होती है। इसी प्रकार देहादिकों में जो आत्माभिमान है यह भी सोपाधिक भ्रम रूप है। यद्यपि सच्चिदानन्द स्वरूप आत्मा के साक्षात्कार करने पर सर्व कार्य जात, अहंकारादि और सब के मूल अज्ञान का नाश हो जाता है तथापि नाश हुवा २ भी उपाधि के विद्यमान होने से देहाभिमान बना रहता है यहां प्रारब्ध कर्म उपाधि है जब तक प्रारब्ध कर्मों की समाप्ति नहीं होती है तब तक देहाभिमान भी रहता है। सो देहाभिमान बाधितानुवृत्ति से रहता है।

यद्यपि ज्ञानवान् के लिये प्रारब्ध कर्म की प्राप्ति कथन मात्र है वास्तव में नहीं है तथापि ज्ञानोत्तर काल में भी ज्ञानवान् के शरीर की स्थिति रहती है इसलिये प्रारब्ध कर्मों की कल्पना होती है भावार्थ यह है कि प्रारब्ध कर्मों के भोग पर्यन्त

ज्ञानवान् पुरुष में बाधितानुवृत्ति से देहाभिमान अर्थात् अज्ञान का लेशमात्र रहता है।

'अविद्या वृत्ति तादात्म्ये विद्यैव विनश्यतः।
विक्षेपस्य स्वरूपं तु प्रारब्धक्षयमीक्षते॥'

अविद्या कृत आवरण तथा अहंकारादिकों के साथ आत्मा का तादात्म्य अध्यास यह दोनों अविद्याकृत हैं। इसलिये इनका ब्रह्म विद्या की उत्पत्ति से नाश हो जाता है और विक्षेप का स्वरूप प्रारब्ध कर्म के नाश की अपेक्षा करता है अर्थात् प्रारब्ध कर्म के नाश होने पर्यन्त विक्षेप का नाश नहीं होता और प्रारब्ध कर्म के नाश होते ही विक्षेप भी नहीं रहता भावार्थ यह है कि जन्मान्तर के संचित कर्मों में से अपना फल देने को जो कर्म निकल कर जीवात्मा के संमुख हुए हैं उन कर्मों को प्रारब्ध कर्म कहते हैं वह प्रारब्ध कर्म अपना फल दिये बिना कदाचित् भी नाश न होगा। जैसे दण्ड के द्वारा घुमाया हुआ कुम्हार का चाक दण्ड के हटा लेने पर भी घूमता रहता है जब वेग समाप्त हो जाता है तब चाक घूमने से ठहर जाता है इसी प्रकार ज्ञान से नष्ट होने पर प्रारब्ध कर्म रूपी वेग जब तक अपना फल न दे सके तब तक शरीर का अन्त नहीं होता।

अपूर्ण

भक्त उद्धव

(ले० श्री जमना प्रसाद जी)

उद्धव ज्ञान-निष्ठा के भक्त, श्रीकृष्ण जी के के उपासक और प्रियसखा थे। सदा उनकी सेवा में तत्पर रहते थे। श्रीकृष्ण जी भी उनका यथोचित सम्मान करते और समय समय पर चेतावनी दिया करते थे।

जब गोपियां श्रीकृष्ण जी की विरह-व्यथा से व्याकुल हुई और उनका हृदय चूर चूर हो गया तब उन्होंने श्रीकृष्ण जी के पास संदेशा भेजा कि एकबार यहां आकर दर्शन दे जाओ। श्रीकृष्ण जी ने इस अवसर को उपयुक्त समझ कर उद्धव से कहा मित्र! तुम वृज जाकर गोपियों को समझा आओ कि शरीर की भक्ति में क्या धरा है। योग की साधना और ज्ञान तथा वैराग की उपासना करो।

भजो ब्रह्म ब्रह्मै सब होऊ। छाँड़ि देहु ममता अरु मोहू॥

यही कल्याण का मार्ग है और यही मुक्ति का द्वार है।

श्रीकृष्ण जी की आज्ञा शिरोधार्य कर उद्धव ब्रज में आये। भगवान् श्रीकृष्ण जी का संदेशा गोपियों को सुनाया। साथ ही अपनी युक्ति और उपदेश से भी काम लिया।

उद्धव के उपदेश को सुनकर एक गोपी ने कहा:-

वैराग योग कठिन, ऊधो! हम न करब हो।
यमुना जल अति गंभीर, तन मन नहिं धरत धीर॥
कृष्ण विरह लागि, वरुक बुद्धि मरब हो।
वैराग योग कठिन, ऊधो! हम न करब हो॥

हमको तो श्रीकृष्ण जी की भक्ति प्यारी है:-

हमको भजना नन्द पियारो।
ब्रह्मानन्द सुख कहा विचारो॥

दूसरी ने कहा:-

उद्धव! हम गोपाल उपासी।
ब्रह्मानन्द सुनि आवत हांसी॥

हमें तो श्रीकृष्ण जी के अतिरिक्त कुछ सुझाई नहीं होता। जहां देखती हैं वहीं श्रीकृष्ण

जी ही दिखाई देते हैं:-

'निरखत जित तित ही कृष्ण व्यापक।'

और भी:-

'जहां देखो वहीं मौजूद मेरा कृष्ण प्यारा है।'

तीसरी ने कहा:-

उद्धव जी! हमारा संपूर्ण तन, मन और हृदय श्रीकृष्ण जी से परिपूर्ण है:-

'श्याम तन, श्याम मन, श्याम ही हमारो धन।
आठों याम ऊधो! हमें श्याम ही सों काम है॥
श्याम हिय, श्याम जिय, श्याम बिना कैसे जियें।
आंधरे की लकड़ी अधार हमें श्याम है॥
श्याम गति, श्याम मति, श्याम ही हैं प्राणपति।
श्याम सुख दाई सो, भलाई सोभा धाम है॥
बावरे भये हो ऊधो! श्याम को भुलाने आये।
योग कहा राखें? यहां रोम रोम श्याम है॥

चौथी ने कहा:-

उद्धव जी! हमारा मन श्रीकृष्ण जी में रम गया है। सोते, जागते, उठते, बैठते, चलते, फिरते, खाते, पीते, सदा श्रीकृष्ण जी का ही ध्यान रहता है। क्षण भर को भी नहीं बिसरता। अब तुम्हीं बताओ तुम्हारे योग को हम कहां रक्खें?

'नाहिन रह्यो हिये में ठौर।
नन्द नन्दन अछत कैसे हिय आनिये और॥
चलत, चितवत, दिवस, जागत, स्वप्न, सोवत, रात।
हृदय तें वह श्याम मूरति, छिन न इत उत जात॥
कहत कथा अनेक, ऊधो! लोक लाज दिखात।
कहा कहों तन प्रेम पूरन घट न सिन्धु समात॥

उद्धव जी! हमारे लिये यही बहुत है कि श्रीकृष्ण जी हमारे मन में बसे रहें। यही हमारी भक्ति है। यही हमारा योग है।

'हमरे योग नेम बस ऐहा, नन्द-नन्दन पद सदा सनेहा'

पाँचवीं ने कहा:-

उद्धव जी! त्याग, श्री को वैराग कहते हैं। वह चार प्रकार का है:-

लोक का त्याग, परलोक का त्याग करो।
ईश का त्याग भी मूरुख मानो॥
तीन प्रकार के त्याग का यह त्याग है।
त्याग का त्याग चौथा पहिचानो॥
चार के त्याग से त्यागी बने नर।
ताहि वैराग का रूप जानो॥

उद्धव जी! तुमही बताओ हम किसको त्यागें और किसको ग्रहण करें? जिस बात का तुम उपदेश दे रहे हो उस ओर हमारा ध्यान ही नहीं है और जब उस ओर हमारा ध्यान नहीं है तब संसार आप ही हमसे छूटा हुआ है।

छटवीं ने कहा:-

उद्धव जी! तुमतो खूब लम्बी चौड़ी हांक रहे हो और बड़े ज्ञानी-ध्यानी बने फिरते हो। तुम्हें यह भी नहीं मालूम है कि हम पहले ही से श्रीकृष्ण के रंग में रंगी हैं और उनके प्रेम में डूब कर मतवारी हो रही हैं। वे हमारे स्वामी हैं! मित्र हैं! पुत्र हैं! सखा हैं! और भ्राता हैं!

'कृष्ण जल, कृष्ण थल कृष्ण बिन्दु सिन्धु।
कृष्ण इष्ट, कृष्ण मित्र, कृष्ण पुत्र, बन्धु॥

सातवीं ने कहा:-

उद्धव जी! तुम्हारा ज्ञान भाड़ में जावे, हमें उससे कुछ करना धरना नहीं है। श्रीकृष्णजी हमारे प्राण हैं। उनके और हमारे प्राणों में कोई अन्तर नहीं है:-

कान्ह भये प्राणमय, प्राण भये कान्हमय।
हिय में न जानि परै, कान्ह है कि प्राण है॥

श्री कृष्ण जी के अतिरिक्त हम किसी को नहीं जानतीं। श्री कृष्ण जी तो हमारे ईश्वर हैं।

भला ! हम उन्हें कैसे भुला सकती हैं।

उद्धव ! हरि हैं हंस हमारे।
ते अब कैसे जात बिसारे ॥
एकै मन, एकै वह मूरति।
अटकी ताहि न तजौं महूरत ॥

गोपियों की अटल भक्ति और प्रीति देखकर उद्धव दंग रहगये।

लखि गोपिन को प्रेम, नेम ऊधो भूल्यो।
गावत गुन गोपाल, फिरत कुंजन में फूल्यो ॥
जिन गोपिन के पग परै, धन्य तुम्हारो नेम।
धाइ-धाइ तुम भेंट ही, ऊधो छाके प्रेम ॥

ऊधो अपना सारा ज्ञान भूल गये। आये थे ज्ञान सिखाने, और विरहानल बुझाने, तथा गुरु बनकर उपदेश देने परंतु स्वयं गोपियों के रंग में रंग गये और उनके पद-रज मस्तक पर धारण करके उनके चेला बनगये।

'उपदेशन आयो हतो, मोहि भयो उपदेश।'

और गोपवेश धारण कर, गोपियों से विदा हो श्रीकृष्ण जी के पास आये और संपूर्ण समाचार कहा, हाथ जोड़ विन्ती की।

वृन्दावन सुख छोड़ के कहां बसे हो आय।
प्रेम सिन्धु हरिजानि कै, ऊधो पकरे पाय ॥
सुमिरत व्रज को प्रेम, नेम कछु नाहिन भावे।
उमग्यो नैनन नीर, बात कछु करत न आवे ॥

श्रीकृष्ण जी ने अपने पीताम्बर से उद्धव के आंसू पोंछे और हंसकर कहा।

उद्धव ! तुमने गोपियों की भक्ति देखी। ये हमारी सच्ची भक्तिनी हैं।

'मेरो रूप हृदय में उनके, मेरे उर वे आवें।
मृदुल हास, भक्तिपन जल धारा कर तल ताल बजावें ॥'

उनकी पदवी ज्ञानियों से कम नहीं है।

इसके पश्चात् श्रीकृष्ण जी ने अपना गोपी-रूप दिखाकर, उद्धव का भ्रम दूर किया।

'गोपी रूप दिखाय, तबै मोहन बनवारी।
ऊधो भ्रमहि निवारि, डारि मुख मोह की आरी ॥
अपनो रूप दिखाय के, लीन्हो बहुरि दुराय।
नन्ददास पावन भयो, जो यह लीला गाय ॥'

द्वारका जाते समय उद्धव श्रीकृष्ण जी के साथ थे। यादव कुल का नाश होने के समय भी साथ थे। अन्त में जब श्रीकृष्ण जी परमधाम को सिधारने लगे तब भी साथ ही थे। श्रीकृष्ण जी ने उनकी सेवा से प्रसन्न हो, चलते समय, अटल भक्ति का वरदान दिया और कहा कि अब बद्रिका-श्रम में जाकर तपस्या करो। उद्धव ने श्रीकृष्ण जी की इस आज्ञा का अक्षरशः पालन किया।

उद्धव ! धन्य है तुमको और धन्य है तुम्हारी भक्ति और प्रीति को।

भगवन् ! हमें भी ऐसा ही वरदान और ऐसी ही भक्ति दो जिससे हम दिन-रात तुम्हारा भजन करें और यश गावें।

बोलो ! भगवान श्रीकृष्णचन्द आनन्दकन्द वृन्दावन बिहारी की जय ! जय !! जय !!!

भारत की दशा

(ले० रूपराम जी बनस्थी आश्रम)

अरे भारत बता तो अब यह क्या सूरत बनाई है।
जिधर देखो उधर से ही पड़ी तुझ पर तबाही है ॥ १ ॥
खड़े दुश्मन हैं मुंह फाड़े तेरा कोई नहीं साथी।
हड़प करने को तेरे अब नज़र सबने जमाई है ॥ २ ॥
मरीज़ ऐसा बना खुद ही मुआलिज़ अब नहीं कोई।
तेरे खुद गरज़ कर्मों ने यह आफ़त आ मचाई है ॥ ३ ॥
बना है देखतो आकर तू अपना आप ही बातिल।
यह आतिश घर में खुद अपने तुझी ने तो लगाई है ॥ ४ ॥

लगा के आग खुद नहीं छिड़कना तेल है इस पर।
अरे गाफिल संभल अब तो ये दिल में क्या समाई है ॥५॥
तबादी से अगर अब भी बचा चाहे तो ऐ ! भारत।
तो सिष बन जाके सतगुरु का इसी में अब भलाई है ॥ ६॥

योग-साधन

[ले० श्री स्वामी शिवानन्द जी सरस्वती]

२८१. परमात्मा स्वयं प्रकाश और स्वतंत्र है। वह अपनी महिमा में प्रतिष्ठित है।

२८२. जब तुम अध्यात्म विद्या में अधिक उन्नति करने लगो तो तुमको लगातार २४ घण्टे तक मौन रखना चाहिए। यह व्रत कई मास तक जारी रखना चाहिए।

२८३. निद्रा को भी शनैः-शनैः कम करना चाहिए। नित्य प्रति तीन या चार घण्टे की नींद करलेनी चाहिए। यदि निद्रा को जीत कर तुम गुडाकेश बन सको तो बहुत ही उत्तम बात है परन्तु यह बड़ा कठिन काम है, अब तक अर्जुन और लक्ष्मण दो व्यक्तियों की बाबत ही सुनने में आया है और तीसरा कोई मनुष्य निद्राजय करने में समर्थ नहीं हुआ है।

२८४. भक्त का हृदय इतना नरम हो जाता है कि परमात्मा सम्बन्धी वार्तालाप उसके समक्ष होने से ही उसकी आखों से आनन्दोन्माद के आँसु जारी हो जाते हैं।

२८५ पति और पत्नि का प्रेम शरीर सम्बन्धी मोह का प्रेम है। यह केवल काम लालसा है। परन्तु भक्त के मुख पर परमात्मा के प्रेम का जो आविर्भाव होता है वह कुछ विचित्र ही होता है। यह चित्ताकर्षक, स्फूर्तिदायक और पुलकायमान करने वाला होता है। उसके दर्शन मात्र से लोगों में अध्यात्म भावों की जाग्रति हो जाती है।

२८६ सत्य, तप, दया और दान धर्म्म के चार स्तम्भ हैं। यह मनुष्य की मोक्ष प्राप्ति में सहायक हैं। यह चित्त शुद्धि के आश्चर्य जनक सहायक हैं। दया से हृदय उदार बन जाता है और मनुष्यों का भेद भाव दूर हो जाता है। यह परमात्मा से मिलने की बड़ी सात्विक शक्ति है।

२८७ भोजन के समय मौन रक्खो। यह भी रसनेन्द्रिय को वश करने का एक साधन है। इसका फल यह होगा कि जो कुछ तुम्हारे सामने एक बार परोस दिया जावेगा तुमको उस पर ही सन्तोष करना होगा। तुम विशेष चटनी नमक, मिर्च मसाले आदि जिह्वा को खराब करने वाले पदार्थ नहीं माँग सकोगे। तुमको पूर्ण मौन रखना चाहिए। भोजन करते समय हू हू करके हंसना बहुत बुरा है, यह बातें करने से भी खराब है।

२८८ व्यर्थ बातें करने के स्वभाव को बदल लेना चाहिए, डींग मारना, लम्बी चौड़ी हाँकना और बिना प्रयोजन के बोलना छोड़ देना चाहिये। ऐसे स्वभाव के कारण शक्ति और समय का बड़ा दुरुपयोग होता है। केवल आध्यात्मिक वार्तालाप होनी चाहिएं। आत्मा सम्बन्धी ही विचार होना चाहिए।

२८९ जिसकी अन्तर्मुख वृत्ति है वह व्यर्थ की बातें नहीं किया करता। यदि कोई मनुष्य व्यर्थ की बातें करता है या गप्पें हाँकता है तो समझ लेना चाहिए कि उसके विचार तुच्छ हैं। जो आदमी अधिक बोलने वाला होता है वह काम कम करने वाला होता है, वह विचारमान भी नहीं होता और गलती भी अधिक करने वाला होता है।

२६० हृदय से लहरें उठकर मुख द्वारा प्रगट होती रहती हैं। मनुष्य का स्वभाव उसकी वाणी द्वारा बहुत कुछ समझा जा सकता है।

२६१ अपने स्वभाव पर ऐसा नियंत्रण करना चाहिए कि तुम्हारी वाणी और लेखनी से तुले हुए शब्द प्रगट हों। निस्सन्देह यह कठिन साधन है परन्तु यह अभ्यास करने योग्य है। तुले हुए शब्द कहने वाला व्यक्ति ठीक अवसर पर एक शब्द ही बोलेगा परन्तु वह शब्द शक्ति और अर्थों से पूर्ण होगा। उसकी वाणी की वृत्तियों पर पूरा नियन्त्रण होगा। ईसा मसीह तुले हुए शब्दों का उच्चारण करता था। महात्मा गान्धी भी इस सम्बन्ध में पूरा प्रयत्न कर रहे हैं। वह लेख लिखते समय अपने लेख को काटते नहीं।

२६२ वायु आकार रहित होता है और इसी कारण तुम उसको देख नहीं सकते। इसका आकार भी होता है कारण तुम इसका स्पर्श करते हो। काल भी निराकार है परन्तु इसका आकार भी है जब ही तुम इसकी १, २, और चार आदि संख्या करते हो। जल भी वाष्प की अवस्था में निराकार है परन्तु बरफ और ठण्डता की अवस्था में आकार वाला है, इसी प्रकार परमात्मा भी निराकार और साकार है।

२६३ जिस प्रकार बरफ के ढेर समुद्र से बनते हैं। और उसमें फिर लीन हो जाते हैं उसी प्रकार यह संसार ब्रह्म से प्रगट होता है और फिर उसी में विलीन हो जाता है।

२६४ जिस प्रकार सूर्य देव अपनी किरणों को चन्द्रमा में प्रविष्ट कर देते हैं और अस्त होने पर उसमें से वापिस खेंच लेते हैं इसी प्रकार ब्रह्म इस जगत् को अपने शरीर में से निकालते हैं और अवान्तर प्रलय के समय इसको वापिस अपने में धारण करलेते हैं, जब ब्रह्म अपने तेज का प्रकाश करता है तो यह सगुण ब्रह्म कहलाता है और जब यह ऐसा नहीं करता तो निर्गुण ब्रह्म कहलाता है।

२६५ तुमको अपने पूजा के कमरे में दो तीन घण्टे नित्य एकान्त में बैठना चाहिए। इससे तुम को शान्ति मिलेगी। अधिक मेल जोल से द्वेष, विक्षेप और प्रतिकूलता बढ़ती है।

२६६ जब तुम एकान्त स्थान में एकान्त बैठो तो अपने ध्यान को अन्दर खेंचो और चंचल मन के स्वभाव को निरीक्षण करो, और चित्त की वृत्तियों को जो लहरों के तुल्य उठती रहती हैं सावधानी से देखो, और संसार की असारता को समझ कर ध्याना करो।

२६७ वचन देने में जल्दी न करो परन्तु उसको पूरा करने में शीघ्रता करो। इसका खूब अभ्यास करो। सदैव यह कहो "मैं प्रयत्न करूंगा परन्तु मैं वचन नहीं देता" यदि तुमने किसी को वचन दे दिया है तो उसको प्राणपन से पालन करने की चेष्टा करो। जो आदमी अपने वचन को पालन करता है वह दूसरों के चित्त पर बड़ा उत्तम प्रभाव डालता है। समाज में ऐसे आदमी का मान आदर होता है कारण वह सच्चा और हितैषी होता है। यदि तुमने अपने किसी मित्र से ८ बजे दिन के मिलने का वचन दे दिया है तो तुमको वहां दस मिनट पहले ही पहुंच जाना चाहिए।

२६८ जब तुम को क्रोध आजावे तो ठण्डा जल पीलो इससे चित्त शान्त हो जावेगा। यदि तुम क्रोध को वश में नहीं कर सकते तो उस स्थान को शीघ्र छोड़ देना चाहिए और १५ मिनट तक धीरे २ चलना चाहिए और ५० बार ओ३म् शांति का उच्चारण करना चाहिए।

२६९ परमात्मा में विश्वास करो और ठीक

काम करो। उस परमेश्वर में पूर्ण श्रद्धा रक्खो और इस बात को याद रक्खो कि वह प्रतिक्षण तुम्हारे साथ है और २४ घण्टे तुम्हारे कर्मों को देखता रहता है। अपना समय नष्ट मत करो। समय अमूल्य है। समय पर काम करो॥

३०० सोने से पहले दिन में की हुई भूलों और पापों को याद करो। दिन में किए हुए समस्त कामों की पड़ताल करो। पूर्ण निश्चय करो "मैं आज के किए पापों को कल नहीं करूंगा, मैं कल झूठ नहीं बोलूंगा। शनै २ तुम्हारा आत्मिक और नैतिक बल बढ़ेगा। तुम सच्चे और पवित्र आदमी हो जाओगे, तुम बुरे काम नहीं करोगे। एक अध्यात्मिक डायरी अथवा आत्म सुधार रजिस्टर रक्खो। इस डायरी को सप्ताह में एक बार पढ़ लिया करो।

३०१ बुरा संग कभी मत करो, अपने आपको बुरे कर्मों से बचाओ।

३०२ परमात्मा सत्य है, वह सत्य का स्वरूप है। तुम सत्यवादी होकर ही उसका साक्षात् कर सकते हो। प्राणान्तक भी सत्य पर आरूढ़ रहना चाहिए। हरिश्चन्द्र के जीवन को आदर्श में रखना चाहिए। सत्य बोलने से चित्त की शुद्धि बहुत होती है। यदि तुम १२ वर्ष तक सत्य बोलने का अभ्यास कर सको तो तुमको वाक्य सिद्धि प्राप्त हो जावेगी। फिर जो कुछ तुम अपनी वाणी से कहोगे वही सच हो जावेगा। हंसी में भी असत्य भाषण नहीं करना चाहिये।

३०३ छल कपट से रुपया कमाने का कभी प्रयत्न मत करो। यह सदैव याद रक्खो लक्ष्मी चंचल है यह अधिक समय तक किसी के पास भी नहीं ठैरती है।

३०४ दूसरों के कष्ट में सहानुभूति करो, और अपनी शक्ति के अनुसार उनको निवारण करने का प्रयत्न करो।

३०५ जो कुछ तुमको मिले या जो कुछ तुम्हारे पास है उसी में सन्तोष करो।

३०६ यदि तुम सत्य बोलोगे तो तुमसे बुरे काम हो नहीं हो सकेंगे। तुम्हारी चिन्ताएं कम हो जावेंगी और परमात्मा का तुम पर अनुग्रह होगा। तुम्हारी वाणी से समस्त भूमण्डल प्रभावित हो जावेगा।

३०७ वेदान्ती कहता है "मैं सब हूं, मैं सब कुछ हूं मैं समस्त के साथ मिला हुआ हूं।"

३०८ 'तू सब है। तू सब कुछ है। तू समस्त में ओत प्रोत है। तेरी इच्छा पूर्ण हो। मैं तेरा हूं। सब कुछ तेरा है। मैं कुछ नहीं हूं। मेरा कुछ नहीं है। मैं कुछ नहीं कर सकता। यह भक्त कहता है।

३०९ परमात्मा के साक्षात्कार के अनेक उपाय हैं। किसी को अपने इष्ट के दर्शन स्वप्न में हो सकते हैं। महाराष्ट्र सन्त एकनाथ जी को हरि के दर्शन साक्षात् चतुर्भुज रूप में हुए थे। तुलसीदास जी ने राम को मनुष्य रूप में कई बार देखा। तुकाराम जी ने भगवान् कृष्ण से सम्मुख वार्तालाप किया। अर्जुन और संजय को विश्वरूप दर्शन की प्राप्ति हुई जो बड़ा दुर्लभ काम है। उत्तम कोटि के भक्त जिनका प्रवेश कारण शरीर में हो गया है परमात्मा के सान्निध्य में रहते हैं। उनको इस बात का ज्ञान और अनुभव है कि हम और वह एक है साथ ही वह यह भी समझते हैं कि हम पृथक् भी हैं। वह यह अनुभव करते हैं कि हमारे और परमात्मा के बीच एक बहुत ही बारीक परदा है।

३१० परमात्मन् तेरी इच्छा पूर्ण हो, यही हमारा भाव रहना चाहिए। इस बात को याद रक्खो कि परमात्मा सब कुछ हमारी भलाई के

लिए करता है। उसके काम रहस्य से पूर्ण हैं। इन विचारों के द्वारा तुम्हारी चिन्ताएं समूल नष्ट हो जावेंगी। सब चिन्ताएं परमात्मा पर जो कि माता के समान है छोड़कर निश्चिन्त हो जाओ। इससे अवश्य शान्ति प्राप्त होगी।

३१० जो भक्त १२ वर्ष तक निरन्तर श्रद्धा भक्ति पूर्वक भजन करता है उसको सब प्रकार की सिद्धिएं स्वतः ही प्राप्त हो जाती हैं। अष्ट प्रकार की सिद्धिएं भक्त की सेवा करने के लिये हाथ बान्धे खड़ी रहती हैं। परमात्मा भक्त को देह धारण करके दर्शन देते हैं।

३११ साधक को चाहिए कि जो भोजन वायु उत्पन्न करता है जैसे काला चना उनको खाना छोड़दे। जौ की रोटी साधक के लिए सबसे उत्तम है।

३१२ साधक को चाहिए कि केवल एक समय दो पहर को भोजन करे। रात्रि को आध सेर दूध और कुछ फल खा लेने चाहिएं। रातको बहुत हलका भोजन करना चाहिए। यदि निद्रा भंग होती है या भारीपन प्रतीत होता है तो शीघ्र उठ जाना चाहिए। साधन आरम्भ करने वालों के लिए भोजन को सावधानी रखना परमावश्यक है। अपने स्वभाव के अनुसार भोजन के पथ्यापथ्य नियम स्वयं ही बनाने चाहिएं। अपने चित्त का निरीक्षण करने में तुम ही स्वयं सब से अच्छे जज हो इसलिए अपनी भोजन सामग्री के सम्बन्ध में तुमको ही स्व निर्णय करना चाहिए।

महात्माओं के वाक्य

जो मधुर वचन बोलना और मित्रता करना नहीं जानते वे फूट का बीज बोते हैं और मित्रों को एक दूसरे से जुदा कर देते हैं।

जो लोग अपने मित्रों के दोषों की खुलेआम चर्चा करते हैं वे अपने दुश्मनों के दोषों को किस तरह क्षमा कर सकते हैं?

मुंह से कोई कितनी ही नेकी की बातें करे परन्तु उसकी चुगलखोर जबान उसके हृदय की नीचता को प्रगट कर ही देती है।

यदि किसी को अपने से प्रेम है तो उसे पाप की ओर जरा भी नहीं झुकना चाहिये।

यदि परोपकार करने के फलस्वरूप सर्वनाश उपस्थित हो, तो गुलामी में फंसने के लिये आत्म-विक्रय करके भी उसे सम्पादन करना चाहिये।

वही लोग जीते हैं जो निष्कलंक जीवन व्यतीत करते हैं और जिनका जीवन कीर्ति विहीन है, वास्तव में वे ही मुर्दे हैं।

जिस तरह इहलोक धन-वैभव से शून्य पुरुष के लिए नहीं है, ठीक इसी तरह परलोक उन लोगों के लिये नहीं, जिनके पास दया का अभाव है।

जो लोग तपस्या करते हैं वही तो वास्तव में अपना भला करते हैं। बाकी सब तो लालसा के जाल में फंसे हुए हैं और अपने को केवल हानि ही पहुंचाते हैं।

दुनिया जिसे बुरा कहती है अगर तुम उससे बचे हुए होतो फिर न तुम्हें जटा रखाने की जरूरत है, न सिर मुड़ाने की।

सचाई क्या है ? जिससे दूसरों को, किसी तरह का ज़रा भी नुक़सान न पहुंचे, उस बात को बोलना ही सचाई है।

मनुष्य की समस्त कामनाएं तुरन्त ही पूर्ण हो जाया करें यदि वह अपने मन से क्रोध को दूर करदे।

जो गुस्से के मारे आपे से बाहर है वह मुर्दे के समान है, मगर जिसने क्रोध त्याग दिया है वह सन्तों के समान है।

मैं और मेरे के जो भाव हैं, वे घमण्ड और खुदग़र्ज़ी के सिवाय और कुछ नहीं हैं। जो मनुष्य का दमन करलेता है वह देवलोक से भी उच्चलोक प्राप्त करता है।

इच्छा कभी तृप्त नहीं होती किन्तु यदि कोई मनुष्य उसको त्याग दे तो वह उसी दम सम्पूर्णता को प्राप्त कर लेता है।

जीवन का कुछ उद्देश बनाओ, उद्देश रहित जीवन बिना पतवार की नौका के सदृश है। उद्देश को पूर्ण करने के लिए साधन सामग्री संग्रह करो फिर कार्य आरम्भ करदो।

कठिनाइयों से विचलित न हो, कठिनाइएं हमको दृढ़ बनाने के लिए हैं। उनका साहस से मुक़ाबला करो। कठिनाइएं उस झक्कड़ की भान्ति होता हैं जिसके पीछे अमृतरूपी वर्षा रहती है।

काम क्रोध और मोह ज्यों २ मनुष्य को छोड़ते जाते हैं दुःख भी उनका अनुसरण करके धीरे २ नष्ट होजाते हैं।

ज्ञान और सब तरह की चतुरता से क्या लाभ ? अन्दर जो आत्मा है उसका ही प्रभाव सर्वोपरि है।

दुनियाँ में दो चीज़ें एक दूसरे से बिलकुल नहीं मिलतीं धन-सम्पत्ति और साधुता व पवित्रता

धर्मात्मा लोगों की नसीहत एक मज़बूत लाठी की तरह है, क्योंकि जो उसके अनुसार काम करते हैं, उन्हें वह गिरने से बचाती है।

बुद्धिमान पुरुष सारी दुनियाँ के साथ मिलन सारीसे पेश आता है और उसका मिज़ाज़ हमेशा एकसा रहता है। उसकी मित्रता न तो बेहद बढ़ जाती है और न एकदम घट जाती है।

कञ्जूस और मक्खी चूस के बराबर कोई भी दुर्गुण नहीं है। कञ्जूस को भगवान की प्राप्ति असम्भव है।

यदि किसी को महापुरुषों की प्रीति और भक्ति मिल जाय तो वह सब से महान सौभाग्य की बात है।

बहुत लोगों को शत्रु बना लेना मूर्खता है किन्तु नेक लोगों की मित्रता को छोड़ना उससे भी बहुत बुरा है।

अच्छी सङ्गत से बढ़कर आदमी का सहायक कोई भी नहीं है। और कोई भी चीज़ इतनी हानि नहीं पहुंचाती जितनी बुरी सङ्गत।

जब समय तुम्हारे विरुद्ध हो तो सारस की तरह निष्कर्मण्यता का बहाना करो, लेकिन जब समय आवे तो सारस की तरह तेज़ी के साथ झपट कर हमला करो।

अनजाने मनुष्य पर विश्वास करना और जाने हुए योग्य पुरुष पर सन्देह करना यह दोनों ही बातें एक समान अनन्त आपत्तियों का कारण होती हैं

अपना करले।

अय मेरे परमात्मन्! तेरी देन का कोई अन्दाज़ा नहीं लगा सकता। आज तक तेरे दरबार से कोई खाली नहीं गया। जिसने जो मांगा उसको तैंने वही दि—। तैंने कभी माँगने वाले की तरफ ध्यान नहीं दिया। कंड़ी और कुञ्जर, राजा और रङ्क पापी और महात्मा भील और ब्राह्मण को भेद भाव छोड़ कर तूने सब की कामना सर्वकाल में पूर्ण की है। ऐसे तुझ दाता के दरबार में मैं अ नी हृदय रूपी झोली पसार कर अति दीनता से यह भिक्षा मांगता हूं कि "तू मुझको अपना करले" मेरी बुद्धि मेरे मन और मेरे शरीर सबको अपना करले। मेरी आखें तेरी होजावें, मेरे कान तेरे हो जावें, मेरे पांव तेरे बन जावें, मेरे हाथ तेरे हो जावें। मेरी समस्त वृत्तिएं और विचार तेरे बन जावें। मेरे रोम २ और परमाणु २ पर तेरा अधिकार हो। "इस मेरे मैं पने को तू अपना करले।" मैं पना "समाप्त होकर तैं पना" रह जावे। मैं यह महसूस करूं कि मेरा कुछ नहीं है सब तेरा है। मैं अपना नहीं रहूं तेरा हो जाऊं। जिनको मैंने अपना समझ रक्खा है उनको तेरा समझने लगूं। तू मुझ को इतना अपनाले कि मैं उछल कर यह कह सकूँ 'मैं तेरा हूं" यह तेरी माया का खेल जिसको मैं अपना या औरों का समझता और देखता हूं तेरा ही समझने और देखने लगूं। अय मेरे सर्वेश्वर क्या तू मेरी इस तुच्छ सी प्रार्थना को स्वीकार करेगा? तुझे करनी तो चाहिए और पूर्ण निश्चय है कि तू अवश्य ही करेगा क्योंकि स्वीकार करना तेरा स्वभाव है परन्तु मुझे जल्दी बहुत है मैं तेरा बहुत अहसान मानूंगा यदि तू इसे जल्दी से स्वीकार करले तो। मुझे इस "मैं पने" से घृणा हो चली है और मैं इससे बहुत दुःखी हो गया हूं. यह दुःख मुझ से सहा जाना दूभर हो रहा है। इस कष्ट के कारण हर समय बेकली रहती है। तेरी याद में दिन कटी हो रही है परन्तु मुझे यह दुरंगी पसन्द नहीं है। यह मेरे और तेरे का झगड़ा बेचैन कर रहा है तू इसे समाप्त करके 'अपना करले।' मैं तेरी मिन्नत करता हूं, तेरे पांव पड़ता हूं और तेरे हा हा खाता हूं। एक दया की दृष्टि मुझ पर डाल और "अपना करले।"

भजन

सुरत मतवारी करत किलोल ॥ टेक ॥
पलंगा साज सजी पिय प्यारी,
पियरस गांठ दई सब खोल ॥ १ ॥
गह २ बांह गले बिच डारी,
धार धरन कर कीन्ही अडोल ॥ २ ॥
पश्चिम दिशा दिशि खोल किवारी,
पियापद परसत भई री अमोल ॥ ३ ॥
तुलसी जगत् जाल सब जारी,
डारी डुगर वेदन की पोल ॥ ४ ॥

२

निराला मुखड़ा निराली झांकी,
निराली जुल्फें दिखादे मोहन।
निराली लटकन निराली मटकन,
निराली वंशी सुनादे मोहन ॥टेक॥
निराली मुसकन निराली चितवन,
निराली धेनु चराके बन में।
निराली ताने सुना २ के
दिवाना हमको बनादे मोहन ॥ १ ॥

सुनादे हमको वो कर्म गाथा,
बतादे हमको मुकाम तेरा।
लगा के चुटकी जगादे हमको,
पिलाके अमृत जिलादे मोहन ॥ २ ॥
पड़ी है उजड़ी वो राजधानी,
उसे बसादेतू फिर से आकर।
कहे वचन थे जो तूने रण में,
उन्हें तो पूरा निभादे मोहन ॥ ३ ॥
कसर न कुछ भी है आज तुलसी,
वो धेनु प्यारी कहाँ रही हैं।
रही जो बाकी वो रो रही हैं,
उन्हें तो धीरज बंधादे मोहन ॥४॥

३

कजरा तो नैनन योग था,
अंसुवन से रोय बहा दिया ॥टेक॥
दिलवर ने दरिया ऐश का,
उलफ़त से भर उमला दिया।
इस दिल की मौज ने क्या किया,
मुझे हंसते २ रुला दिया ॥ १ ॥
राधे को जाग पठा दिया,
कुब्जा को राज बैठा दिया।
मुझ रैन अन्धेरी के चन्द्रमा,
तुझे किसने क्या बहका दिया ॥ २ ॥
इस दर्जी दिल ये दर्द ने देखो,
क्याहि हम से दगा किया।
कम्बल का पेवन्द फाड़ कर,
मखमल के बीच लगा दिया ॥ ३ ॥
"शम्भु" सखी सत्संग ने,
कौवों को हंस बना दिया।
वो जो ज्ञान गर्व का भार था,
जमुना में डार बहा दिया ॥ ४ ॥

४

उधो कहिये दीनदयाल से,
जो दयालु होतो दया करो ॥ टेक ॥
क्या तो हम पै आके दया करो,
या इतनी और मया करो।
हम जाके काशी करौत लें,
तुम न्हाके गंग गया करो ॥ १ ॥
अकुलीन जान तजी हमें,
दधि खात लाज लगी तुम्हें।
भिलनी के झूंठे बेरों की,
चर्चा भई तो हुआ करो ॥ २ ॥
तुम्हें रैन कील किये की हो,
कुल बांह लाज गहे की हो।
मन पुराना हो गया इसे,
फिर से आके नया करो ॥ ३ ॥
हम किसपै साधें समाधि का,
सिद्धन की है साधिका।
शम्भू सखी भज राधिका,
तुम पूरे हो तो नया करो ॥ ४ ॥

६

प्यारो पैये केवल प्रेम में ॥ टेक ॥
नहीं ज्ञान में नहिं ध्यान में,
नहिं करम कुल नेम में ॥ १ ॥
नहिं भारत में नहिं रामायण,
नहिं मनु में नहिं वेद में ॥ २ ॥
नहिं झगरे में नाहिं युक्ति में,
नहिं मतन के भेद में ॥ ३ ॥
नहिं मन्दिर में नहिं पूजा में,
नहिं व्रत्ता की घोर में ॥ ४ ॥
हरिचन्द वो बन्ध्यो डोले,
एक प्रेम की डोर में ॥ ५ ॥